KAVYADIPIKA

A

MANUAL OF SANSKRIT RHETORIC

INTENDED FOR, AND SUITED TO THE CAPACITY OF,
THE UNIVERSITY STUDENTS

WITH

A SHORT ACCOUNT, IN ENGLISH,
OF THE RISE, PROGRESS AND DECLINE OF SANSKRIT POETRY.

BY

KANTI CHANDRA BANDYOPADHYAYA
SANSKRIT PROFESSOR, CATHEDRAL MESSION COLLEGE.

CALCUTTA :

PRINTED AT THE KAVYAPRAKASHA PRESS.

1870.

काव्यदीपिका।

विश्वविद्यालयच्छात्राणां पाठोपयोगी

सुगमः क्षुद्रकायः

अलङ्कारसन्दर्भः।

काथिड्राल-मिशन-कलेज-नामकविद्यालयस्य

संस्कृताध्यापकेन

वन्द्योपाधिकेन श्रीकान्तिचन्द्रविद्यारत्नभट्टाचार्य्येण

सङ्कलितः।

दूंलण्डीयभाषया लिखितेन संस्कृतसाहित्यशास्त्रस्य

संक्षिप्तेनेतिवृत्तेन समेतः।

कलिकातानगर्य्यां

सिमुलिया-हेदुया-दीर्घिकायाः पूर्व्वे हरिपालस्य लेन ७ सङ्ख्यभवने

श्रीक्षेत्रमोहनमुखोपाध्यायेन

काव्यप्रकाशयन्त्रे मुद्रितः।

संवत् १९२७।

বিজ্ঞাপন।

যেরূপ ব্যাকরণ-জ্ঞান ব্যতীত সংস্কৃতে অধিকার হয় না সেইরূপ অলঙ্কার-শাস্ত্রে বোধ না থাকিলে কাব্যের সম্যক্ জ্ঞানে ও প্রকৃত রসাস্বাদনে ক্ষমতা জন্মে না। ব্যাকরণ-দোষ-শূন্য হইলেই কাব্য সর্ব্বাঙ্গ-সুন্দর হয় না। কাব্যের কতকগুলি স্বতন্ত্র দোষ, স্বতন্ত্র গুণ ও স্বতন্ত্র অলঙ্করণ আছে। কবিগণ ব্যাকরণ-বিশুদ্ধ-বাক্যও, দূষিত গুণান্বিত কিংবা অলঙ্কৃত করিতে পারেন। যে শাস্ত্রে ঐ সমস্ত দোষ গুণ এবং অলঙ্কার বিবেচিত হইয়াছে তাহার নাম অলঙ্কার-শাস্ত্র। অলঙ্কারশাস্ত্র-কারেরা দোষাদি নিরূপণের সহিত কাব্যের লক্ষণ, বিভাগ, বাক্য ও লক্ষণাদির স্বরূপ, এবং কেহ কেহ নাটকাদিরও লক্ষণ প্রভৃতি নিরূপণ করিয়াছেন।

কবিচূড়ামণি কালিদাসের কাব্য বিশ্ববিদ্যালয়ের ছাত্রদিগের পাঠার্থ নির্দ্দিষ্ট হইয়াছে। ইহা প্রায় সর্ব্বত্রই স্বভাবোক্তি, উপমা প্রভৃতি অলঙ্কারে অলঙ্কৃত,

এবং মাধুর্য্যগুণে পদে পদে সহৃদয়গণের হৃদয় আকর্ষণ করে। কালিদাস এবং ভবভূতির নাটকও ছাত্রগণের পাঠ্য পুস্তকের অন্তর্নিবেশিত হইয়াছে। নাটকসংক্রান্ত কতকগুলি নিয়ম অবগত হওয়া ছাত্রদিগের নিতান্ত আবশ্যক। যে সকল প্রসিদ্ধ অলঙ্কারপুস্তক প্রচলিত আছে, সে সমস্তই প্রায় বিস্তৃতকলেবর কঠিনতর্ক-পরিপূর্ণ এবং আদিরস-প্রধান; কোন মতেই বালকদিগের পাঠের উপযুক্ত নহে। অথচ অলঙ্কারশাস্ত্রের কিঞ্চিৎ জ্ঞান তাহাদের আবশ্যক বলিয়া অনেকেই বিবেচনা করিয়া থাকেন। সেই আবশ্যক অংশগুলি প্রসিদ্ধ অলঙ্কারগ্রন্থ সকল হইতে সঙ্কলন করিয়া কাব্যদীপিকা নামে এই ক্ষুদ্র পুস্তকখানি মুদ্রিত করিলাম। ইহাতে কাব্য ও বাক্যের লক্ষণ, লক্ষণা প্রভৃতির স্বরূপ ও সাধারণ বিভাগ, প্রসিদ্ধ দোষ, গুণ, অলঙ্কার এবং নাটক-সংক্রান্ত যে যে বিষয় অবগত হওয়া নিতান্ত আবশ্যক তৎসমস্ত মাত্র সংক্ষেপে সন্নিবেশিত হইয়াছে। উদাহরণগুলি প্রায়ই কুমারসম্ভব, রঘুবংশ, ভারবি, মাঘ, শকুন্তলা, উত্তরচরিত প্রভৃতি প্রসিদ্ধ কাব্য হইতে উদ্ধৃত হইয়াছে। আদি-

রসের কবিতা যত দূর পারিয়াছি পরিহার করিয়াছি। সংস্কৃত কাব্যের সংক্ষিপ্ত ইতিবৃত্ত ইংরাজি ভাষায় লিখিয়া প্রথমে সন্নিবেশিত করিয়াছি, বোধ হয় ইটী পাঠ করিলে বালকগণের কিঞ্চিৎ উপকার হইতে পারিবে।

পরিশেষে কৃতজ্ঞতার সহিত স্বীকার করিতেছি, মুদ্রাঙ্কন আরম্ভ হইলে সংস্কৃত কালেজের ব্যাকরণের অধ্যাপক সুরাচার্য্যকল্প পূজ্যপাদ শ্রীযুক্ত তারানাথ তর্কবাচস্পতি মহোদয় এবং ঐ বিদ্যালয়ের সাহিত্য-শাস্ত্রের অধ্যাপক মহামতি শ্রীযুক্ত দ্বারকানাথ বিদ্যাভূষণ মহাশয় যত্নের সহিত আদ্যন্ত পরিশোধিত করিয়া দিয়াছেন। এবং ইংরাজিটীও সংস্কৃত বিদ্যালয়ের অধ্যক্ষ সুধীর-বুদ্ধি শ্রীযুত প্রসন্নকুমার সর্ব্বাধিকারী মহাশয় সস্নেহে এবং কাথিড্রাল মিশন কলেজের ইংরাজী কাব্যশাস্ত্রের অধ্যাপক শ্রীযুক্ত মিলার সাহেব মহোদয় সাদরে দেখিয়া সংশুদ্ধ করিয়াছেন।

এক্ষণে কাব্যদীপিকা সর্ব্বত্র সাদরে পরিগৃহীত হইলেই শ্রম সফল বোধ করি।

শ্রীকান্তিচন্দ্র শর্ম্মা

सूचीपत्रम्।

	पृ०	पं०
प्रथमशिखा -	१	
काव्यप्रयोजनम् -	१	२
काव्यलक्षणम् -	२	१
द्वितीयशिखा -	३	
वाक्यस्वरूपम् -	३	२
पदस्वरूपम् -	३	६
शब्दविभागः -	३	१०
अर्थविभागः -	३	११
वाचकस्वरूपम् -	३	१४
अभिधास्वरूपम् -	४	२
लक्षणास्वरूपम् -	४	८
लक्षणाविभागः -	५	६
उपादानलक्षणा -	५	९
लक्षणलक्षणा -	५	१५
व्यञ्जनास्वरूपम् -	६	३
व्यञ्जनाविभागः -	६	८
शाब्दीव्यञ्जना -	६	१०
अभिधामूला व्यञ्जना	६	१४
लक्षणामूला व्यञ्जना -	८	१९
आर्थीव्यञ्जना -	९	६
तृतीयशिखा -	१०	
काव्यभेदाः -	१०	२
ध्वनिः - -	१०	४
ध्वनेर्भेदौ - -	१०	७
लक्षणामूलः (अविवक्षित-वाच्यः) - -	१०	७
अभिधामूलः (विवक्षितान्य-परवाच्यः) -	१०	७
अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः	११	५
अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः	११	१२
विवक्षितान्यपरवाच्यः	११	१६
तद्विभागः -	१२	२
असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः -	१२	४
रसनिरूपणम् -	१२	९-१२
रसभेदाः -	१३	२
स्थायिभावाः -	१५	२

	पृ०	पं०
व्यभिचारिभावाः -	१५	५
संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः -	१६	१२
गुणीभूतव्यङ्ग्यम् -	१६	१६
चित्रकाव्यम् -	१७	१२
चतुर्थशिखा -	१६	
दृश्यश्रव्यभेदेन काव्यविभागः	१६	३
दृश्यकाव्यलक्षणम् -	१६	५
अभिनयस्वरूपं तद्भेदाश्च	१६	१०
नाटकलक्षणम् -	२०	२
नायकलक्षणम् -	२०	८
धीरोदात्तलक्षणम् -	२०	१५
धीरोद्धतलक्षणम् -	२०	२०
धीरललितलक्षणम् -	२१	५
धीरप्रशान्तलक्षणम् -	२१	७
प्रकरणलक्षणम् -	२१	१०
प्रहसनलक्षणम् -	२१	१५
नाटिकालक्षणम् -	२१	१८
अङ्कलक्षणम् -	२२	७
त्रोटकलक्षणम् -	२२	१७
पूर्व्वरङ्गलक्षणम् -	२३	११
नान्दीलक्षणम् -	२३	१४
प्रस्तावनास्वरूपम् -	२४	४
प्रस्तावनाभेदाः -	२४	१०
उद्घात्यकलक्षणम् -	२४	१३
कथोद्घातलक्षणम् -	२५	६
प्रयोगातिशयलक्षणम्	२५	१२
प्रवृत्तकलक्षणम् -	२६	५
अवलगितलक्षणम् -	२६	१३
पताकास्थानकलक्षणम्	२७	२
अर्थोपक्षेपकाः -	२८	१
विष्कम्भकलक्षणम् -	२८	५
प्रवेशकलक्षणम् -	२८	१०
अङ्कावतारलक्षणम् -	२८	१५
सन्धिलक्षणम् -	२६	२
सन्धिभेदाः -	२६	६
नाड्योक्तयः -	३०	१
श्रव्यकाव्यलक्षणम् तद्भेदाश्च	३१	१०
महाकाव्यलक्षणम् -	३१	१८
खण्डकाव्यलक्षणम् -	३२	१०
गद्यलक्षणम् -	३२	१२
चम्पूलक्षणम् -	३२	१४
पञ्चमशिखा -	३३	
दोषस्वरूपं तद्भेदाश्च	३३	२-३
पदमात्रगताः दोषाः	३३	७

	पृ०	पं०
पदवाक्यगताः दोषाः	२४	२
वाक्यमात्रगता दोषाः	२८	१६
अर्थदोषाः -	४२	२
रसदोषाः -	४६	६
दोषाणां क्वचिद्गुणत्वं क्वचिद्दोषत्वञ्च -	४८	६-११
पृष्ठशिखा -	४६	
गुणस्वरूपम् -	४६	१
गुणविभागः -	४६	७
माधुर्य्यस्वरूपम् -	४६	६
ओजःस्वरूपम् -	५०	२
प्रसादस्वरूपम् -	५०	१३
सप्तमशिखा -	५१	
रीतिस्वरूपं तद्भेदाश्च	५१	१
वैदर्भीलक्षणम् -	५१	७
गौड़ीस्वरूपम् -	५१	१२
अष्टमशिखा -	५२	
अलङ्कारस्वरूपम् -	५२	२
अलङ्कारविभागः -	५२	३
शब्दालङ्काराः -	५२	३
अनुप्रासः - -	५२	५
यमकम् - -	५२	१२

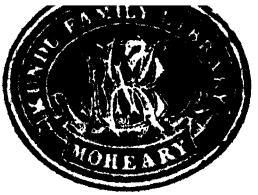
	पृ०	पं०
श्लेषः - -	५३	५
अर्थालङ्काराः -	५३	१४
स्वभावोक्तिः -	५३	१८
उपमा - - -	५४	६
मालोपमा - -	५५	३
रूपकम् - -	५५	६
उत्प्रेक्षा - -	५५	१४
अतिशयोक्तिः -	५६	११
अन्यरूपा अतिशयोक्तिः	५७	८
व्यतिरेकः - -	५८	३
प्रतिवस्तूपमा -	५८	१३
निदर्शना - -	५६	५
दृष्टान्तः - -	५६	१६
अर्थान्तरन्यासः -	६०	१
तुल्ययोगिता -	६०	१६
दीपकम् - -	६१	१३
अन्यरूपं दीपकम् -	६१	१६
सन्देहः - -	६२	८
भ्रान्तिमान् - -	६३	१
अपह्नुतिः - -	६३	११
समासोक्तिः -	६४	१
अप्रस्तुतप्रशंसा -	६५	७

	पृ०	पं०		पृ०	पं०
व्याजस्तुतिः -	६५	१२	विरोधः - -	६६	१
प्रतीपम् - -	६६	१४	विषमम् - -	६६	१२
अर्थश्लेषः -	६७	५	असङ्गतिः - -	७०	१८
सहोक्तिः - -	६७	१०	कारणमाला -	७१	२
काव्यलिङ्गम् -	६७	१५	सारः - -	७१	७
विभावना - -	६८	३	एकावली - -	७१	१०
विशेषोक्तिः -	६८	६	अर्थापत्तिः - -	७२	१

सूचीपत्रं सम्पूर्णम् ।

शुद्धिपत्रम्।

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	प०
माश्रुख	मामुख	५	२
विलंघ्य	विलङ्घ्य	८	८
ऽथ	ऽर्थः	८	१५
पत्रा	त्रपा-	१४	६
,—	।	२१	६
पुलिङ्ग	पुंलिङ्ग	२४	१८
येत्य	मेत्य	२५	१७
,—	।	२६	१६
,—	।	२८	१३
कर्भकस्य	कर्म्मकस्य	३३	१६
प्रवालोद्मस्य	प्रवालोद्गमस्य	४१	७
कीर्त्या-	कीर्त्यो-	४५	२२
यऽङ्के	येऽङ्के	४७	११
पूब्ब	पूर्ब्ब	५१	१५
विश्वः	विश्व०	५२	११
लभा	लता	५५	११
गताः	गता	५३	३
मण्डला	मण्डला	६३	१६
चरो	रचो	६४	१५



SANSKRIT POETRY.

"Poetry," says Hazlitt, "is the language of the imagination and the passions. It relates to whatever gives immediate pleasure or pain to the human mind". Its existence may, therefore, be co-eval with the primary institution of society, and even with the first creation of man. His earliest efforts would, indeed, consist of unconnected and separate pieces without any systematic arrangement. First of all, the marvellous and gigantic power of the elements, and the splendid appearance of the heavenly bodies,—the visible symbols of the invisible and infnite, would strike his mind. The exploits and prowess of the 'favored few,' shining pre-eminently over their fellow-brethren, and dazzling their eyes by a charming brilliancy, would not fail to produce their effect. Hence would, naturally, spring two sorts of poetry, the first consisting of hymns addressed to, and singing the glory and power of, the visible deities, and through them extolling the mysterious potency of the Omnipotent: and the second comprehending short ballads and songs, celebrating the exploits and adventures of some favorite hero. It would be long, before systematic and continued pieces would be originated. System is the work of time, the production of mature judgment and consummate genius.

The Greeks had got hymns and ballads before the immortal father of their poesy touched his harp. His mighty and grasping

genius could hardly remain content with a few poor scraps and scattered patches, which had satisfied his predecessors. He, at once, laid and established his claim over the vast empire of poetry, and gave it a poetical organization of his own.

The Romans, under the republic, had no high aspirations in this departmemt of literature. They felt not the delicate charms of poetry,—the sweet phrensy of fancy. They were emphatically the children of Mars, and bore too manly a spirit to stoop before the feminine Muses. They boasted of their stern discipline and rigid martial spirit, as the characteristic of a sovereign people, and hated the softer arts as belonging to the subject races and the effeminate barbarians. Poetry, in consequence, languished in their age, and never grew with vigor aud luxuriance. It was not till the Augustan era, that this elegant art flourished in Rome. It is a delicate plant that grows only in the congenial warmth of imagination ; it cannot bear the blighting heat of stern utility and rigid discipline.

The Hindus have been pre-eminently celebrated for the originality and antiquity of their poetry. Their chief defect lies in the almost absolute want of any historical records properly so called. Whatever imformation can be gleaned of their past history is through the gorgeous and delusive coloring of poetry, or through their intercourse with other nations. It was not till the invasion of Alexander, that any knowledge of them could be had from foreign sources. We must then look to the country itself to gain any information of the times anterior to the Greek invasion, and, in the absence, in general, of external evidence, we must place our chief reliance on the internal testimony to be extracted from the living monuments of our ancestors,—the works they have left us as an inexhaustible and priceless patrimony,—the everlasting memorials of their divine genius.

The vast field yet remains unexplored, or only partially explored, presenting, indeed, at the first sight, a desolate and dark appearance, but containing rich mines of gold in the interior; and although the indefatigable zeal and the indomitable perseverance of some master-minds in Europe have, to some extent, smoothed the way, the deep recesses of Hindu history lie yet in darkness. A Niebuhr of Indian history is yet to be born.

I do not presume at all to throw any light on Hindu history. It is beyond my capacity and acquirements. I will only attempt, in the following pages, to trace the changes, Sanskrit Poetry underwent, from its rude structure in the Vedas to the highest refinements it attained to, and its decline in latter days.

The hymns of the Rig Veda, the only portion of the sacred Scriptures which can be classed with poetry, are principally addressed to Indra, 'the deity of the visible firmament,' 'the God of lightning and rain', and Agni 'the God of fire'. They are the oldest monuments of Hindu genius, and the earliest specimens of their poetry. The poetry, however, of the hymns, is not so simple as could be expected in so early a period of Society. "The poetry of the Rig Veda is remarkably deficient in that simplicity and natural pathos or sublimity which we usually look for in the songs of an early period of civilization." *

Next in succession comes the Ramayana of Valmíki, the earliest and the greatest epic in Sanskrit. Valmíki is said to be the A'dikavi or primeval poet, and the inventor of *Sloka*, (Sanskrit verse) so called from the occasion of its birth, the *compassion* which filled the heart of the sage at the sight of a pair of cranes,

* Ed. B. Cowell. Elphinstone's History of India.

one of which had been cruelly pierced by the arrow of a fowler. The simplicity of the style, the sweet and natural pathos pervading throughout and the *prolixity* (if I may so use the term) in the structure, are quite in keeping with its early date. *

The Mahabharata of Vedavya'sa contains passages full of pathos and grandeur. The descriptions in the Sabha Parva, and the pathetic delineations in the Stri Parva are genuine touches of poetry. But although the style is, in general, characterized by simplicity, and we meet with occasional prolixity in the structure, we have not here invariably the smooth and flowing strain of the Ramayana, nor always its simple, natural, yet vivid style. The work of Valmi'ki is like a garden of nature, where she shines in simple and naked beauty, and sports wild at her pleasure ; while in the Mahabharata we have, now and then, a sprinkling of artificial tinge,—a touch of later refinements ; and the style bears evident proofs of an advanced stage in the language.

But it was in the hands of Kalidasa and Bhavabhuti, that Sanskrit poetry attained to its highest refinements, consistent with purity, and without the extravagant coloring imparted to it by later writers. But as we are acquainted with Bhavabhuti as a dramatic writer, and as I shall speak of Sanskrit drama separately, I postpone noticing his poetry, till I come to treat of the subject of the Hindu theatre.

Ka'lida'sa is known to the world both as an epic and a dramatic poet. His style is pure, chaste and simple ; it has not, in the least, the laxity of the sacred poems, and though characterised by brevity, perspicuity runs through

* The Upanishads and the Puranas, including the Bhagavata, though they, now and then, glow with poetic sentiments, cannot properly be classed with poetry. I am not in a position to fix their dates in the progress of Sanskrit literature.

every vein of his poetry. His discriptions are always true to nature, his delineation of characters faithful to the minutest point; his similes are every where appropriate, natural, beautiful. Nature yielded to him as a gentle bride, and ever remained faithful in his hands. The description of the ocean, of the forest scenery, and the hermitage of the sages therein, in the 13th Book of the Raghuvansa, when Rama returned home from Lanka;—the parting scene of Lakshmana in the 14th, leaving Sita, the queen of Rama, alone and helpless in the wilderness, a prey to the howling beasts, and crying aloud like a frightened kurari;—the sudden and wonderful appearnce, at midnight, of the goddess of Ayodhya, before Kusha sleeping in his apartment with doors all barred and closed, and her descriptions of deserted Ayodhya, graphically contrasted with her former glory and beauty;—the most faithful delineation of the acts of the maidens of Beder, eager to feast their eyes with the sight of Aja in the 7th, and of those of Indraprastha, when S'iva advanced through that capital in marriage procession in the 7th of Kumara;—the discourse of S'iva in the disguise of an ascetic, and Pa'rvati practising hard austerities to gain his favor;—and the vivid descriptions in the Meghadu'ta, are among the master-pieces in the Language.

Another rare quality characterizes his poetry. He could delineate, within the shortest compass imaginable, subjects which had occupied volumes in the hands of others, and yet would not leave out a single prominent fact in his descriptions. His epithets are always appropriate and full of meaning, and he seldom uses particles merely to fill up the verse.

The style of the Kiratarjuniya of Bharavi is classical and elaborate. It has not the simplicity of the Raghuvansa, nor

its natural structure. The peculiar characteristic of Bharavi's writings is the great condensation of matter. Almost every line of his poetry may form the subject of an essay. The great work of Bharavi marks a new epoch in Sanskrit poetry. In his work, to a certain extent only, but to a greater degree, in the noble productions of the poets subsequent to him, we find a more ostentatious display of learning and ingenuity, than indication of genuine touches of true and simple poetry. They possessed great powers of description, but they knew not where and when to stop. Their descriptions and discourses are sometimes too long to attract the attention of the readers. Some of them carried their refinements too far, and to an extravagance quite beyond the region of true poetry.

The Bhattikavya is a work of great merit, both as an epic poem, and possessing great grammatical interest besides. The description of autumn, opening the second Book of his work, is an excellent piece of poetry, and clearly proves that the author possessed great natural powers, and a high poetical genius. But unfortunately, his object was to teach *grammar* through poetry, and he was therefore often forced to sacrifice the latter at the stern and rigid altar of the former.

The S'isu'palabadha of Magha is an exact prototype of the great work of Bharavi. His descriptions are often too long and tedious. That of Krishna's passage, from Dwaraka to Indraprastha, takes up the space of ten long books in his hands. But the copy surpasses the original in evincing greater variety, learning and skill in the discourses and descriptions. The conference of Uddhava, Krishna and Balarama in the 2nd Book, and the quaint reproaches of S'isu'pala in the 15th, shew great artistic skill in the author, and are excellent pieces of their kind.

But it was in the hands of Srì Harsha in his Naishadha

Charita, that refinements were carried to their utmost extravagance. His genius was too sharp to keep the tender graces of Poetry unhurt. His exaggerations knew no bonnds—were checked by no rules. His horses were too ambitious to rest satisfied with the whole space of earth for their range ; they must dry the ocean with the dust of their hoofs to have a wider scope for their course. The moon had the misfortune to part with a great portion of the bright matter of her orb for the formation of the face of Damayanti, by the great creator, and hence the dark spots in her disc. Such unnatural exaggerations abound in the great work of Srì-Harsha. But his descriptions, arguments and discourses shew marks of a very sharp intellect, great genius, consummate skill, and most profound learning.

The Ràghavapàndaviya of Kaviraja is a work of little merit, contains less poetry, and is noted only for its verbal ingenuity, all its slokas bearing a double sense throughout the poem.

Thus Sanskrit poetry gradually degenerated into mere verbal quibbles and pompous bombastic trash.

The 'Sugared' pastoral songs of our 'honey-tongued' Jayadeva are the only exceptions, and they are the only pieces of the kind in Sanskrit poetry. They flow in soft and liquid strain. They are, indeed, as the poet boasts, sweeter than nectar, softer than the softest feminine graces, and more musical than the harmonious tune of the *Vina.*

I purposely omitted to mention the name of the Nalodaya ascribed to Kalidasa. I need hardly remark, that as a poetical work, it is of little merit, contains mere verbal ingennity, and is not at all worthy the name of the greatest of Sanskrit bards. It is perhaps the work of *a* Kalidasa who lived long after his celebrated namesake.

Sanskrit poetry is very poor in prose productions. I shall barely mention the names of the only ones which can be

classed with poetry. These are the Das'akumára Charita of Srì-Dandin, the Kadambari of Vana Bhatta and the Vashavadattà of Subundhu.

The dramatic literature of a country is important and interesting not only in a literary and philological point of view, but also as it throws light on the manners and customs of the people, on the state of religion and philosophy of the time, and in short, on the general history of the nation. "The objects," says Prof. Wilson "for which an ancient dialect may be studied are its philology and its literature, or the arts and sciences, the notion and manners, the history and belief, of the people by whom it was spoken. Particular branches of composition may be preferably cultivated for the due understanding of each of these subjects, but there is no one species which will be found to embrace so many purposes as the dramatic. The dialogue varies from simple to elaborate, from the conversation of ordinary life to the highest refinements of poetical taste. The illustrations are drawn from every known product of art, as well as every observable phenomenon of nature. The manners and feelings of the people are delineated living and breathing before us, and history and religion furnish the most important and interesting topics to the bard. Wherever therefore there exists a dramatic literature, it must be pre-eminently entitled to the attention of the philosopher as well as the philologist, of the man of general literary taste as well as the professional scholar".

The drama of the Hindus is original and their own; it is borrowed from no other nation ancient or modern. It belongs to that class of dramatic literature which modern European scholars have termed *Romantic*, in opposition to what has been styled *classical*. Schlegel remarks "the only specimen of their plays hitherto known to us is the delightful

Sakuntala, which, notwithstanding the foreign coloring of its native climate, bears in its general structure such a striking resemblance to our own romantic drama, that we might be inclined to suspect, we owe this resemblance to the predilection for Shakespeare, entertained by the English translator Sir W. Jones, if his fidelity were not attested by other learned orientalists".

The number of Sanskrit dramas, now extant, is indeed very small, when compared with the theatre of some other nations. But this is probably owing to the unfrequency of their representations, and to the neglect of this department of literature by the learned. " They seem to have been acted only on solemn and public occasions". * Numbers doubtless are lost, and only those of peculiar merit have come down to us. And " that the Hindu theatre is only partially represented by the surviving specimens, is proved by the fact, that one of the earliest of their plays, the Vicramorvasí of Kálidasa, refers to the sage Bharata as having analysed the dramatic art. The long lost *poetics* of the Hindu Aristotle in 34 chapters have been recently discovedre by Dr. Hall. Many plays must have been composed before a critic could have written so copiusly on the theory". †

A peculiarity of the Hindu drama is the mixing of Prakrita dialects in the speeches of the inferior *dramatis personæ*. This shews, that Sanskrit ceased to be the spoken language of the country before the rise of dramatic literature. I doubt, whether Sanskrit was ever the spoken dialect of the people of all India. India is not a country but a continent; and to expect a common dialect throughout this vast extent would be almost extravagant. As the descendants of the Aryas spread on all sides, their dialects, gradually and of necessity, changed, differing from the mother tongue and from each other. Hence sprang the various dialects

* Wilson's Hindu Theatre. † E. B. Cowell.

in the different countries of India. They are all, however, the daughters of the same mother (Sanskrit), and bear a near family relation to each other. Sanskrit, however, continued to be the language of the learned and the higher classes, and like Latin in Europe during the middle ages, formed the medium for the productions of great minds in every department of learning.

Sanskrit dramatists are not shackled by the rigid and artificial rules of the Greeks and the French,—nor are they allowed the extravagance of the Chinese play-writers. They have little regard for the unities of time and place. As for the unity of action, I do not clearly understand what is meant by it. "In the highest and proper signification" says Schlegel, "action is an activity dependent on the will of man. Its unity will consist in the direction towards a single end, and to its completeness belongs all that lies between the first determination and the execution of the deed." This idea of action does not apply to Hindu drama. To quote again the words of Schlegel, "What comes to pass through the principal characters, and proceeds with them, has frequenlty no more connection with a voluntary determination than a ship's striking on a rock in a storm". "If by unity of action" says Prof. Wilson, "be meant singleness of incident, they (Hindu dramatists) exhibit an equal disdain for such a restriction."

Another characteristic of our drama is, that we have no etragedies, that is, no dramatic compositions ending tragically. Hindu dramas must, invariably and of necessity, have a happye nd. The hero may encounter dread ful and serious calamities,—h may suffer excruciating pangs of separation,—he may wa nder from forest to forest, his head deranged, his mind distracted, in mad quest of his love; but he must be crowned with success in the end. The tragical end of the hero is shocking to Hindu idea,—shocking to their tender feelings.

Though thus we have no tragedy at all, which forms an important branch of dramatic composition of many nations, ancient and modern, there is not wanting a great variety in this department of Sanskrit literature. There are ten kinds of *Rú'pakas* properly so termed, and eighteen sorts of *Uparú'pakas*, the minor or inferior *Rú'pakas*. We have also moral plays as the Prabodha Chandrodaya, which are, however included in one or other of the former divisons.

I have mentioned before the numerical paucity of the Hindu dramas. To each of the two greatest masters of the art Kalidasa and Bhavabhuti are ascribed only three pieces. We have, indeed, no Antiphanes whose fertile genius could produce three hundred and sixty five comedies, nor a giant Lope de Vega, the incredible number of whose dramatic compositions astounds our ears ; and the lightning flash of whose genius could extend to a thousand lines, while walking in his garden. I am quite in the dark about the merit of these wonderful productions ; but of this, I am sure, that Sanskrit drama loses little by the smallness of the number of works in this department of poetry. Its quality fully compensates for its quantity. Moreover, we have in Kalidasa combined the greatest epic and the greatest dramatic genius in the language, an excellence which no other poet,in any nation, as far I am aware,has ever been endowed with.

Many of the earliest Sanskrit dramas are certainly lost. The oldest specimen extant of the Hindu theatre,is the Mrichhakatika attributed to the royal poet Sú'draká (शूद्रक), whom tradition places in the first century before Christ. That the work is of considerable antiquity, is proved by internal evidence, and by the structure of the style which is characterized by the simplicity of an early age, and has not the elaborate polish of later times.

Next we come to Kalidasa, the prince of Sanskrit bards to

whose immortal genius are ascribed three dramatic pieces. 1° The Abhijnana Sakuntala, the greatest, sweetest and finest drama in the language. 2° The Vicramorvasí, which excels in poetic and visionary charm, reminding us of the fairy scenes of Shakespeare in his Midsummer-Night's Dream. 3° The Malavikagnimitra. That the first two are the genuine productions of the same hand, there is no reason to doubt. "The subject of each is taken from heroic mythology, and a royal demigod and a nymph of more than human mould are the hero and heroine of either; there is the same vivacity of description and tenderness of feeling in both; the like delicate beauty in the thoughts and extreme elegance in the style". * The Malavikagnimitra is a work of inferior merit. There is doubt whether it is the production of the favored child of Saraswati. "The internal evidence" says Prof. Wilson "is adverse to the drama's being the work of the author of Sakuntala and Vikramorvasí. There is neither the same melody in the verse, nor fancy in the thoughts."

Bhavabhúti is second only to Kalidasa in this department of poetry. To him also are attributed three dramas. — The Uttararamacharita, the Malati Madhava, and the Mahaviracharita. The peculiar merit of his poetry is the sublimity of descriptions, —a quality rarely met with in the productions of other Sanskrit bards. His style is classical, and though elaborate, is not deformed by extravagant refinements. His descriptions of mountain scenery are highly picturesque and truly grand. His glowing delineation of the sites of the Dandakaranya,—here shining in tender green,—there looking dismal with their vast and dreary extent,—and resounding in places with the rushing of the waterfalls; and his descripitons of the transparent rills moving gently along, with their banks

* Wilson's Hindu Theatre.

shaded with groves of canes, are indeed sublime and romantic. The pathetic strain, — describing the painful situation of Ayodhya's and Sita's lord, and depicting in breathing terms his tender feelings, roused by the sight of the familiar scenes, where he had lived for years with his beloved queen, whom his own cruel hands have banished from his kingdom, a victim to the howling forest, and whom he never hoped to see any more, can

" create a soul,
Under the ribs of death";

and move the senseless rocks.

The Mudra Rakshasa of Visakhadatta is a drama of a quite different description from the works of Kalidasa and Bhavabhuti. It is entirely of a political character, and interesting in the display of Machiavelian artifices througout the work. The plot is well-conducted. The poet is much inferior to the two great masters of the art in fancy, imagery and brilliancy of thought. " The style though wanting in beauty is always vigorous and occasionally splendid". *

To Srí Harsha are ascribed the Ratnavalí and the Nàgànanda. Though the former is decidedly superior to the latter, there is little doubt, that they are the productions of the same hand. Whether they are, really, the works of the Royal Bard, or presented to his Highness by Dhavaka (who got plenty of money in return.) as is alleged by the author of the Kavyaprakaśa, we gain or lose little by the information. This, however, is certain that they were written in the reign of the above named Cashmerian prince, and thus we have a certain clue to their date.

The style in both, and especially in the Ratnavali, is very smooth, elegant, and excedingly beautiful. The Prakrita of the Ratnavali, in paticular, is eminently elegant, and appears to equal advantage in no other drama. The poetry of the Ratnavali

* Wilson's Hindu Theatre.

is, indeed, inferior to that of the works of Kalidasa and Bhavabhuti, both in fancy and elevation of thoughts; but I cannot go so far as Prof. Wilson in the assertion, "that there is in it no poetic spirit, no gleam of inspiration, scarce even enough to suggest a conceit in the ideas". 'The Ratnavalí he proceeds, and not without reason, as it seems to me, "may be taken as one of the connecting links between the old and new school, as a not unpleasing production of that middle region through which Hindu poetry passed from elevation to extravagance."

The Venísanhàra of Bhattanarayana is a drama of ordinary merit. The style though spirited is harsh. There is enough of passion, but very little of fancy. The peculiar excellence of the piece is the nice distinction of characters. Those of Duryodhana, Arjuna, Karna and Ashathama, and above all, that of Bhímasena, are faithfully delineated and minutely distinguished. Yet even in this our author failed, and miserably failed, in depicting the hero himself. Yudhisthira cannot but be the hero of the play. But he acts no prominent part in it. We do not find him at all in the stage till the commencement of the last act, where even he acts the part of a credulous fool, quite incompatible with the character of the hero of *nataka*.

The dramatic works of subsequent writers abound more or less in extravagant refinements. A few only deserve notice. The Chandakaushika of Aryakshemishwara may be noted for its pathetic strain, elegant style, and the dramatic interest in the hero. The Anargharaghava of Murari is celebrated for its elaborate style, has little dramatic merit, contains few poetic thoughts, and is full of hyperbolical extravagance and flat commonplace. The Mrigánkalekha' by Vishwanatha bears nothing original. Almost every incident and every thought in it, is borrowed from his predecessors. The Dhurtanartaka, the Hasyarnava and the Kautakasurvaswa are comic pieces or farces, being

satirical attacks, the first upon the Sàiva ascetics, the second upon the licentious Brahmanas, assuming the character of religious mendicants, and the third upon princes who addict themselves to sensuality, and fail to patronize learning.

Even the present century is not altogether barren of dramatic compositions. But the productions cause only incredible labor in their birth, and are either born lifeless, or suffer a miserable life to the great uneasiness of their parents.

I shall conclude with a few remarks on the Hanumannataka or the *Maha* or great *nataka* as it is emphatically called. It is evidently the work of several hands, the different fragments put together, aranged and formed into an entire whole (most probably) by Damodara Misra at the command of Bhoja. The poem contains passages of genuine poetry; but it has no consistence with the principles of drama. There is no mention of entrance or exit, and the poet himself is the speaker in several places.

K. C. B.

काव्यदीपिका ।

प्रथमशिखा ।

मातरं हृदये ध्यात्वा विशद्दाम्बुजवासिनीम् ।
बालानां सुखबोधाय क्रियते काव्यदीपिका ॥

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये * ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" ॥

मम्मटः ।

काव्यं हि पाठादिसमनन्तरमेव अनिर्वचनीय-विलक्षणानन्दाय,† कालिदासादीनामिव यशःसम्पत्तये, श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनाधिगमाय, लोकाचारादिपरिज्ञानाय, सुधामयेनोपदेशवचनेन रामादिवत्प्रवर्त्तितव्यं न रावणादिवत् इति सत्यथप्रवर्त्तनाय साधुविगर्हितवर्त्मनिवर्त्तनाय च, तत्तद्भाषासु व्युत्पत्तिलाभाय च यथायोगं कवेः पाठकानाञ्च भवतीति बहुफलतया काव्यस्य तल्लक्षणादिकमवश्यमवगन्तव्यं धीमतामिति प्रथमतः काव्यस्य लक्षणमाह,—

---

* काव्यादनर्थनिवारणञ्च भवतीत्याहुः, तथा च मयूरभट्टः सूर्य्यशतकं विरचय्य महारोगाद्विमुक्त इति प्रवादः ।

† इदमेव काव्यस्य प्रधानफलमिति कारिकाक्रममनादृत्य प्रथममुपन्यस्तम् ।

कथ्यते काव्यम् "इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली" ॥ दण्डी ।

इष्टा अलौकिकचमत्कारित्वेन सहृदयमनोरमा अर्थास्तैर्व्यवच्छिन्ना विलक्षणीकृता पदावली पदसमूहः काव्यम् । "रिपुस्ते मृतः" "पुत्रस्ते जातः" इत्यादिवाक्येन जनितस्य आह्लादस्य न लोकोत्तरत्वमिति न तत्र काव्यत्वप्रसक्तिः । तथा च लोकोत्तरचमत्कारितया सहृदयहृदयाकर्षि वाक्यं काव्यमिति फलितम् । तन्नाम वाक्यं काव्यं, यत् खलु विलक्षणचमत्कारितया बलादिव वशमानीय सामाजिकजनमनांसि रञ्जयति । यथा—

"मानुषीभ्यः कथं नु स्यादस्य रूपस्य सम्भवः ।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्" ॥ अ० ग० ।

"उग्गिरुद्दब्भकवला मए परिच्चत्तणच्चणा मोरी ।
ओसरिअपाण्डुपत्ता सुअन्ति अंसुं विअ लदाओ*" ॥ अ० ग० ।

"अयि कठोर ! यशः किल ते प्रियं
किमयशो ननु घोरमतः परम् ।
किमभवद्विपिने हरिणीदृशः
कथय नाथ ! कथं वत मन्यसे" ॥ उत्त०

एतानि वाक्यानि पाठानन्तरमेव कमपि लोकोत्तरमानन्दं सहृदयानामातन्वन्तीति तेषां काव्यत्वम् ।

इति काव्यनिरूपणं नाम प्रथमशिखा ।

---

* उद्गीर्णदर्भकवला मृगी परित्यक्तनर्तना मयूरी ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्ति अश्रु इव लताः ॥

द्वितीयशिखा ।

वाक्यस्वरूपमाह,—

अन्वितैकार्थबोधे तु वाक्यं पदसमुच्चयः ।

पदानां प्रत्येकं सार्थकत्वेऽपि तेषामर्थो नान्वितः, वाक्यन्तु तदन्तर्गतपदार्थसमुदितमेकमर्थं बोधयति । यथा, 'जननी सुतानन सस्नेहमीक्षते' ।

"सुप्तिङन्तं पदं" प्राह पाणिनिर्मुनिसत्तमः ।

सुबन्तः तिङन्तश्च शब्दः पदम् । यथा, 'रामः' 'भवति' इत्यादि ।

शब्दः पुनस्त्रिविधः, यथाह मम्मट-भट्टः,—

"स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा" ।

अर्थोऽपि शब्दप्रतिपाद्यस्त्रिविध एव, वाच्यः, लक्ष्यः, व्यङ्ग्यश्च ।

"वाच्याद्यस्तदर्थाः स्युः" मम्मटेन यथोदिताः ।

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह,—

"साक्षात् सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः" ।

मम्मटः ।

साक्षात् सङ्केतितम्तु 'अस्मात् शब्दादयमर्थो बोद्धव्य' इति

शब्दस्य स्वाभाविक्या शक्त्या* व्याकरणादिना वा नियन्त्रितः । इयमेव शक्तिः "अभिधा" इत्युच्यते । अनया बोध्योऽर्थः वाच्यः, स च साक्षाद् बोध्यत्वेन प्रधानतया मुख्यार्थ इत्यपि अभिधीयते । यथा गो-शब्दोऽभिधया गलकम्बलादिमज्जीवविशेषरूपं, पाचकशब्दश्च पाककर्तृरूपञ्चार्थं साक्षात् बोधयति ।

लक्षणयाऽर्थबोधकः शब्दो लाक्षणिकः, तया बोध्योऽर्थः लक्ष्यः । लक्षणास्वरूपमाह विश्वनाथः,—

"मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते ।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता" ॥

मुख्यार्थस्य अन्वयानुपपत्तिग्रहे तदर्थसम्बन्धी अन्योऽर्थः, रूढिप्रयोजनयोरन्यतरस्मिन् हेतौ सम्भवति, यया प्रतीयते सा वृत्तिर्लक्षणा नाम । रूढिः प्रसिद्धिः, यथा, 'कलिङ्गः साहसिक' इत्यत्र कलिङ्गशब्दो देशविशेषरूपे स्वाभिधेयेऽर्थेऽसम्भवन् तद्देशवासिनः पुरुषान् बोधयति । प्रसिद्धिश्च अत्र हेतुः । 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र च गङ्गाशब्दः प्रवाहविशेषरूपं स्वाभिधेयमर्थं बोधयितुमसमर्थः सामीप्यसम्बन्धसम्बन्धिनं तटं बोधयति । हेतुश्चात्र शीतत्वपावनत्वातिशयबोधनरूपं प्रयोजनम् ।

---

* शब्दस्य स्वाभाविकीं शक्तिं सर्वे नाद्रियन्ते, रूढ्यसम्भवेव शब्दानामर्थबोधने हेतुरिति केचिदाचक्षते, तथा च अभिधापि तन्मते लक्षणाव्यञ्जने इव आरोपितैवेत्यलमतिगहनावगाहनेन ।

"उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे ! सुखितमाशु स ततः शरदां शतम्" ॥

इयं हि कञ्चिदपकारिणं प्रत्युक्तिरिति मुख्यार्थस्यान्वयानुपपत्तेः वैपरीत्यसम्बन्धेन अपकारादिरूपमर्थं ज्ञापयति, अपकाराद्यतिशयद्योतनञ्चात्र प्रयोजनम् ।

इत्येवं सा द्विविधा रूढिमूला प्रयोजनमूला च ।
सेयं पुनर्द्विधा स्यादुपादानं लक्षणञ्चेति ॥

उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणा चेति सा लक्षणा पुनर्द्विविधा ।

स्वसिद्धये पराक्षेपेऽसावुपादानलक्षणा ।

वाच्यार्थस्य अन्वयसिद्ध्यर्थं लक्ष्यार्थस्य बोधने वाच्यार्थस्यापि उपादानादियमुपादानलक्षणा यथा,—"यष्टयः प्रविशन्ति" इत्यत्र यष्टीनां स्वतः प्रवेशक्रिययाऽन्वयासम्भवात् प्रवेशान्वयार्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते । अत्र च स्वार्थस्यापरित्यागादियम् "अजहत्स्वार्था" इति च कथ्यते ।

परार्थमात्रबोधे तु भवेल्लक्षणलक्षणा ।

सर्वथा स्वार्थपरित्यागेनान्यार्थमात्रबोधने इयं लक्षणलक्षणा । अतएवासौ 'जहत्स्वार्था' इति च भण्यते । यथा पूर्व्वोदाहृते, 'उपकृतं बहु तत्र' इत्यादौ ।

व्यञ्जनयाऽर्थबोधकः शब्दः व्यञ्जकः, तया बोध्योऽर्थो व्यङ्ग्यः । व्यञ्जनास्वरूपमाह,—

"विरतास्वभिधाद्यासु * ययार्थो बोध्यतेऽपरः ।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च" ॥

विश्वनाथः ।

अभिधायां लक्षणायाञ्च स्वं स्वमर्थं बोधयित्वा विरतायां ययाऽपरोऽर्थो बोध्यते सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम । शब्दवदर्थोऽपि अर्थान्तरव्यञ्जक इति प्रथमतो द्विविधा व्यञ्जना शाब्दी आर्थी च ।

शाब्दी च द्विविधा, अभिधामूला लक्षणामूला च । यथाह विश्वनाथः,—

"अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा" ।

अभिधामूलामाह विश्वनाथः,—

"अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते ।
एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साभिधाश्रया" ॥

---

* विश्वनाथादयः केचित् तात्पर्य्याख्यामतिरिक्तां वृत्तिं कथयन्ति तत एव 'अभिधाद्यासु' इति बहुवचनम् । वृत्तिमिमामन्ये न मन्यन्ते ।

संयोगाद्याश्च,—

"संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः*" ॥

यथा,—"सशङ्खचक्रो हरिः" इति शङ्खचक्रसंयोगेन हरिर्विष्णुः । 'फणहीनो नागः' इति फणवियोगेन नागः सर्पः । 'रामलक्ष्मणौ' इति लक्ष्मणसाहचर्य्येण रामो दाशरथिः । 'रामार्जुनौ' इत्यत्र विरोधितया रामो भार्गवः, अर्जुनः कार्त्तवीर्य्यः । अर्थः प्रयोजनम् यथा,—'स्थाणुं भज भवच्छिदे' इति भवच्छेदरूपप्रयोजनसम्बन्धेन स्थाणुः शिवः न तु शाखाविहीनो वृक्षः । प्रकरणं प्रस्तावः यथा,—'यथाज्ञापयति देवः' इति देवो भवान् राजा वा । लिङ्गं विशेषकं चिह्नं यथा,—'कपर्द्दी भीमः' इति कपर्द्देन विशेषकेण भीमः शिवः । अन्यस्य प्रसिद्धार्थकस्य शब्दस्य सन्निधिः समभिव्याहारः यथा,—'स्थलारविन्दश्रियम्' इत्यत्र अरविन्दसन्निधानेन श्रीः शोभा । सामर्थ्यं शक्तिः यथा,—'मधुना मत्तः कोकिलः' इति मधुर्वसन्तः तस्यैव कोकिलमादने सामर्थ्यात् । औचिती युक्तता यथा,—'गौरेका तु मनस्विनः' इत्यत्र औचित्येन गौर्वाक् । "भाति गगने चन्द्रः" इति

* अनेकार्थस्य शब्दस्य कस्यार्थस्य बोधोभवतीत्यनिश्चये संयोगादयोऽर्थविशेषबोधने नियामका इत्यर्थः ।

गगनरूपेण देशेन चन्द्रः शशाङ्कः । 'रात्रौ विभावसुः' इति विभावसुर्वह्निः दिवसे तु सूर्य्यः । व्यक्तिः स्त्रीपुंस्त्वादिकं लिङ्गं यथा,—'मित्रं भाति' इति नपुंसकलिङ्गेन मित्रं वस्तुः, 'मित्रो भाति' इति मित्रः सूर्य्यः । स्वरा उदात्तादयोवेदएव प्रसिद्धाः ।

इत्थं संयोगादिभिरेकस्मिन्नर्थे नियमिते अर्थान्तरबोधनप्रतिरोधेन तन्मात्रे एव व्यवस्थापिते यया अर्थान्तरं बोध्यते सा अभिधामूला व्यञ्जना । यथा,—

"कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलंघ्य ।
दिग्दक्षिणा गन्धवहं सुखेन व्यजीकनिश्वासमिवोत्ससर्ज्ज" ॥ कुमारस०

"आच्छादितायतदिगन्तरसञ्चकैर्गा-
माक्रम्य संस्थितसुदर्शविशालशृङ्गम् ।
मूर्द्ध्नि स्खलत्तुहिनदीधितिकोटिभेन-
सुद्दीप्य को भुवि न विस्मयते नगेशम्" ॥ शिशुपालवधम्।

प्रथमे दक्षिणाशब्दस्य प्रकरणवशात् तदभिधानदिगरूपेऽर्थे नियमिते व्यञ्जनया दाक्षिण्यशीलनायिकारूपेऽर्थः, द्वितीये च नगेशशब्दस्य प्रकरणेन रैवतकपर्व्वतरूपेऽर्थे नियमिते व्यञ्जनया शिवरूपोऽर्थो बोध्यते ।

लक्षणामूलामाह विश्वनाथः,—

"लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम् ।
यया प्रत्याय्यते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाश्रया" ॥

उपास्यते आश्रीयते विधीयते इति यावत्, प्रत्याय्यते बोध्यते। यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र प्रवाहविशेषरूपार्थबोधनादभिधायां, तटरूपार्थबोधनाल्लक्षणायाञ्च विरतायां यया शीतत्वपावनत्वातिशयरूपं प्रयोजनम् बोध्यते सा लक्षणामूला व्यञ्जना।

आर्थीं व्यञ्जनामाह,—

"वक्तृबोद्धव्यवाक्यानां काकोश्चेष्टादिकस्य च।
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत् सार्थसम्भवा" ॥

विश्वनाथः ।

सा अर्थसम्भवा आर्थी, व्यञ्जनेतिशेषः। यं पुरुषं बोधयितुं शब्द उच्चार्य्यते स बोद्धव्यः, काकुर्ध्वनेर्विकारः, वैशिष्ट्यात् विशेषयोगात्।

यथा 'गतोऽस्तमर्कः' इति वाक्येन आस्तिके द्विजातौ वक्तरि प्रतिपाद्ये वा 'सन्ध्यावन्दनस्यायमवसरः' इति, गोपालबालके वक्तरि प्रतिपाद्ये वा "संहृियन्तां गावो गृहं प्रतिनिवर्त्तामहे" इत्यादिका अर्था वक्त्रादिवैशिष्ट्यात् प्रतीयन्ते। यथा वा,

"तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्द्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिरतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु" ॥ वेणीसं०।

अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्य इति काकुः प्रकाश्यते।

शब्दार्थनिरूपणं नाम द्वितीयशिखा।

तृतीयशिखा ।

ध्वन्यादिभेदेन काव्यस्य भेदत्रयमाह,—

काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चित्रमिति त्रिधा ।

ध्वनिं लक्षयति विश्वनाथः,—

"वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम्" ।

यस्मिन् काव्ये व्यङ्ग्यार्थो वाच्यार्थादधिकचमत्कारी तन्नाम ध्वनिः, तच्च उत्तमं काव्यम् ।

"भेदौ ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ लक्षणाभिधामूलौ ।
अविवक्षितवाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च" ॥

विश्वनाथः ।

लक्षणामूलः अभिधामूलश्चेति ध्वनेर्द्वौ भेदौ, तौ च क्रमेण अविवक्षितवाच्यः विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति नामभ्यामपि व्यपदिश्येते । तत्र अविवक्षितं बाधितस्वरूपं वाच्यं यत्र स अविवक्षितवाच्यो नाम लक्षणामूलो ध्वनिः ; लक्षणामूलत्वादेवात्र वाच्यमविवक्षितम् । स च द्विविधः अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च ।

यदाह विश्वनाथः,—

"अर्थान्तरं संक्रमिते वाच्येऽत्यन्तं तिरस्कृते ।
अविवक्षितवाच्योऽपि ध्वनिर्द्वैविध्यमृच्छति" ॥

यत्र स्वयमनुपयुज्यमानो मुख्योऽर्थः स्वविशेषरूपे अर्थान्तरे परिणमति तत्र मुख्यार्थस्य स्वविशेषरूपेऽर्थान्तरे संक्रमितत्वादर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वम् । यथा,—

"त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्" ॥

अत्र वचनादि उपदेशादिरूपतया परिणमति, सम्बोधे आत्मीयभावाद्यतिशयश्च व्यङ्ग्यः ।

यत्र पुनः स्वार्थं सर्व्वथा परित्यजन्नर्थान्तरं बोधयति तत्र मुख्यार्थस्यात्यन्ततिरस्कृतत्वादत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वम् । यथा 'उपकृतं बहु तत्र' इत्यादौ (५४०) पूर्व्वमुक्तं । अत्राद्ये मुख्यार्थस्यार्थान्तरे संक्रमणं प्रवेशः नतु तिरोभावः, अतएवात्र अजहत्स्वार्था लक्षणा । द्वितीये स्वार्थस्यात्यन्तं तिरस्कृतत्वाज्जहत्स्वार्था ।

"विवक्षितान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः" । मम्मटः ।

यत्र वाच्यं विवक्षितं प्रकाशितस्वरूपं सदन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठं सोऽपरः विवक्षितान्यपरवाच्यो ध्वनिः, अत्र हि वाच्योऽर्थः स्वरूपं प्रकाशयन्नेव व्यङ्ग्यार्थस्य प्रकाशकः, यथा प्रदीपो घटस्य ।

स च द्विविधः असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यश्च ।

यदाह स एव,—

"कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः"।

न संलक्ष्यः सम्यगनुभूयमानः क्रमः प्रतीतिक्रमो यस्य तादृग् व्यङ्ग्यं यस्मिन् सोऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः। स च रसभावादिः। अत्र व्यङ्ग्यप्रतीतेर्विभावादिप्रतीतिकारणकत्वात् क्रमोऽवश्यमस्त्येव, किन्तु उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवल्लाघवान्न संलक्ष्यते।

अथ कोऽयं नाम रसः के च विभावादय इत्याङ्कर्मम्मट-भट्टपादाः।

"कारणान्यथ कार्य्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः"॥

रत्यादेरित्यादिपदेन हासोत्साहादयोगृह्यन्ते। लौकिके उत्साहादीनां वक्ष्यमाणानां स्थायिभावानां यानि कारणानि उत्पादकरूपाणि नायकप्रतिनायकादीनि, उद्दीपनरूपाणि नायकप्रतिनायकचेष्टादीनि, यानि कार्य्याणि विपत्त्याभिमुख-गमनादीनि, यानि च सहकारीणि सहायभूतानि धृतिगर्वादीनि, तानि नाट्ये काव्ये च चेन्निबध्येरन्, क्रमेण विभावाः, अनुभावाः, व्यभिचारिणश्च कथ्यन्ते। तैर्विभावादिभिर्व्यक्तः स्फुटीकृतः विल-

चणप्रतीतिविषयीकृत इति यावत् स्थायी भावः रसः कथितः तद्विशेषानाह,—

आदिमो "हास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ काव्ये रसाः स्मृताः" ॥

मम्मटः।

एषां क्रमेणोदाहरणानि। आदिमस्य,—

"विहसती शैलसुतापि भावमज्ञैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्य्यस्तविलोचनेन" ॥ कुमा०।

हास्यस्य,—

"भिक्षो! मांसनिषेवणं प्रकुरुषे किं तेन मद्यं विना
मद्यञ्चापि तव प्रियं प्रियतमे वाराङ्गनाभिः सह।
तासामर्थरुचिः कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्य्येण वा
चौर्य्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो नष्टस्य कान्या गतिः" ॥

करुणस्य,—

"अदृष्टदुःखो धर्म्मात्मा सर्व्वभूतप्रियंवदः।
मयि जातो दशरथात् कथमुञ्छेन वर्त्तयेत् ॥
यस्य भृत्यास्य दासास्य स्वादून्यन्नानि भुञ्जते।
कथं स भोक्ष्यते रामो वने मूलफलान्ययम्" ॥ रामा०।

रौद्रस्य,—

"कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्म्मर्य्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः।

नरकरिपुणा सार्द्धं तेषां समीमकिरीटिना-
मयमहमसृक्पङ्केदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्" ॥ वेणी० ।

वीरस्य,—

"क्षुद्राः सन्त्वासमेते विजहतु हृदयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा-
युष्मद्द्वेषेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।
सौमित्रे! तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुषां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि" ॥ महानाट० ।

भयानकस्य,—

"नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादपास्यत्वपा
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः ।
पर्य्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नान्यैः किरातैः कृतम्
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मोत्तरणाशङ्किनः" ॥ रत्नावली ।

बीभत्सस्य,—

"उत्कृत्योत्कृत्य कक्षिं प्रथममथ पृथूच्छोथभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्वयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
अन्तःपर्य्याप्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतराजः करङ्का-
दङ्कस्थास्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति" ॥ मा०मा० ।

"मानुषीभ्यः कथं नु स्यादस्य रूपस्य सम्भवः ।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्" ॥ अ० श०

एषां क्रमेण स्थायिभावानाह मम्मटः—

"रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चैव स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः" ॥

व्यभिचारिभावान् कथयति स एव,—

"निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमाः ।
आलस्यञ्चैव दैन्यञ्च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥
व्रीड़ा चपलता हर्ष आवेगो जड़ता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥
सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः*" ॥

"निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः" ॥

* विपत्त्यादेन तत्त्वज्ञानादिना वा स्वावमानना निर्व्वेदः, परगुणादीनामसहिष्णुता असूया, मद्योपयोगेन चित्तविकारो मदः, अभीष्टलाभादिना सम्पूर्णस्पृहता धृतिः, परुषाद्यावेशादिना मनःक्षेपः अपस्मारः, निद्रागतस्य विषयानुभवः सुप्तं, निन्द्यादिकर्त्तुर्वैरनिर्यातननिश्चयः अमर्षः, लज्जादिना हेतुना हर्षाद्याकारगोपनम् अवहित्थं, नीतिमार्गानुसरणादिनाऽर्थनिर्द्धारणं मतिः ; अन्यत् स्पष्टम् ।

यथा—

"अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्ट्रे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
क्वचित् पुण्येऽरण्ये शिव ! शिव ! शिवेति प्रलपतः" ॥

"केचिच्चमत्कारितया वत्सलञ्च रसं विदुः"। विश्वनाथः ।

यथा—

"यदाह धात्रा प्रथमोदितं वचो
यया तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया
पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः" ॥ रघु० ।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यमाह,—

यत्र व्यङ्ग्यप्रतीतेस्तु क्रमः सम्यग्विभाव्यते ।
स संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्तद्भेदा बहवः स्मृताः ॥

यथा पूर्व्वोदाहृते (८पृ०) कुवेरगुप्तामित्यादिश्लोके दक्षिणा-शब्देन दाक्षिण्यशीलनायिकारूपं वस्तु व्यज्यते । अयञ्च शब्द-शक्त्युद्भवो वस्तुध्वनिः ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यमाह,—

अनुत्तमे गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु वाच्यतः ।

यत्रे व्यङ्ग्यार्थे वाच्यतो वाच्यार्थादनुत्तमेऽनधिकचमत्कारिणि सति गुणीभूतव्यङ्ग्यं, तच्च मध्यमं काव्यं कथ्यते। यथा,—

"अत्रासीत् फणिपाशबन्धनविधिः, शक्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्याहृतः।
दिव्यैरिन्द्रजिदस्त्रलक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
केनाप्यत्र मृगाक्षि! राक्षसपतेः क्षुण्णा च कण्ठाटवी" ॥

अत्र अनुनायकोपनायकप्रतिनायकेषु निर्दिष्टेषु चतुर्थपादे नायको राम एवार्थशक्त्या प्रतीयते, स च केनापीत्युपादानेन वाच्यायमानतयाऽगूढः कृत इति व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वमपनीतम्। चित्रकाव्यमाह,—

व्यङ्ग्यार्थहीनं काव्यं यत्तत्तु चित्रमिति स्मृतम् ॥

चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तं, व्यङ्ग्यार्थहीनं स्फुटप्रतीयमानव्यङ्ग्यार्थरहितम्, तच्च अधमं काव्यमुच्यते।

शब्दचित्रं वाच्यचित्रं द्विविधं तत्प्रकीर्त्तितम्।

यत्र वाच्यार्थात् शब्दस्य प्राधान्येन चमत्कारित्वं तत् शब्दचित्रम्। यथा,—

"कूजत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघुत्कारवत्कीचक-
स्तब्धाडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चावतोऽयं गिरिः।

एतस्मिन् प्रचलाकिनां प्रचलतासुद्वेजिताः कूजितै-
र्द्वेल्लन्ति पुराणचन्दनतरुस्कन्धेषु कुन्मीनसाः"* ॥ (उ० च०)

यत्र शब्दाद्वाच्यार्थस्य प्राधान्येन चमत्कारित्वं तद्वाच्यचित्रम्. यथा,—

"ते दृष्टिमात्रपतिता अपि कस्य नात्र
क्षोभाय पक्ष्मलदृशामलकाः खलाश्च ।
नीचाः सदैव सविलासमलीकलग्ना
ये कालतां कुटिलतामिव न त्यजन्ति" ॥†

इति काव्यप्रभेदनं नाम तृतीयशिखा ।

---

* कौशिकघटा पेचकसमूहः, कौकुलिकुलं काकसमूहः, प्रचलाकिनां मयूराणाम्, कुन्मीनसाः क्रूरसर्पाः ।

† अलीकं ललाटं मिथ्या च ।

एवं ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यचित्वेन काव्यस्य भेदत्रयमुक्त्वा पुनर्दृश्यश्रव्यत्वभेदेन भेदद्वयमाह,—

"दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्" ।

विश्वनाथः ।

"दृश्यं तत्राभिनेयं तद् रूपारोपात्तु रूपकम्" ॥

विश्वनाथः ।

अभिनेयम् अभिनययोग्यम्, तच्च दृश्यं काव्यं नटैरादिस्वरूपारोपाद्रूपकमिति च कथ्यते ।

अभिनयस्य स्वरूपं भेदाश्च कथ्यन्ते,—

"भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः ।
आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्विकस्तथा" ॥

नटैरङ्गेन, वाचा, वस्त्रालङ्कारादिभिः, मानसभावैश्च रामयुधिष्ठिरादीनामवस्थानुकरणमभिनयः ।

दृश्यकाव्यानि कानिचिद् रूपकनाम्नाऽपराणि उपरूपकनाम्ना कथ्यन्ते । तत्र रूपकाणि नाटकप्रकरणप्रहसनप्रभृतीनि दशविधानि, उपरूपकाणि च नाटिकात्रोटकादीनि अष्टादशभेदानि । विशेषं विना सर्वेषामेव स्वरूपं नाटकलक्षणसमानम् ।

नाटकलक्षणमाह विश्वनाथः,—

"नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम् ।
विलासर्द्ध्यादिगुणवद् युक्तं नानाविभूतिभिः ॥
सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्त्तिताः ॥
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको * मतः ॥

---

* नायकलक्षणमाह विश्वनाथः—

"त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान् नेता" ॥

दक्षः क्षिप्रकारी, शीलं सद्वृत्तम् एवमादिगुणसम्पन्नो नेता नायको भवति । स च चतुर्विधः, धीरोदात्तः, धीरोद्धतः, धीरललितः, धीरप्रशान्तश्च ।

तेषां क्रमेण लक्षणमाह स एव,—

"अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः ।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः" ॥

अविकत्थनः अनात्मश्लाघाकरः, महासत्त्वः हर्षशोकादिभिरनभिभूतस्वभावः, निगूढमानः विनयच्छन्नगर्वः, दृढव्रतः अक्लीबतनिर्वाहकः यथा रामयुधिष्ठिरादिः ।

"मायापरः प्रगल्भः प्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः ।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः" ॥

चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्य्यव्यापृतपूरुषाः ।
एक एव भवेदङ्गी" प्रथमो "वीर एव वा ॥
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्य्यं निर्वहणेऽद्भुतम् *" ।

माया कपटाचारः तत्प्रायणः, यथा भीमसेनादिः ।
"निश्चिन्तो मुदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्" ।
कलाः नृत्यादिकाः यथा रत्नावल्यां वत्सराजः,—
"सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात्" ।
यथा मालतीमाधवे माधवः ।
* प्रकरणादिषु विशेषाः कथ्यन्ते विश्वनाथेन,—
"भवेत् प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम् ।
'आदिमो'ऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथ वा वणिक् ॥
सापायधर्म्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः ।
नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्" ॥
यथा मृच्छकटिकमालतीमाधवादि ।
"भवेत् प्रहसने वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम् ।
अङ्गी हास्यरसो नात्र विष्कम्भकप्रवेशकौ" ॥
यथा हास्यार्णवकौतुकसर्वस्वादि ।
"नाटिका कृत्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका ।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः ॥
स्यादन्तःपुरसम्बन्धा सङ्गीतव्यापृताथ वा ।
नवानुरागा कन्याऽत्र नायिका नृपवंशजा ॥
सम्भवेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः ।
देवी पुनर्भवेद् ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥

ख्यातं रामायणमहाभारतादिप्रसिद्धं रामयुधिष्ठिरादिचरितम् ; सन्धयोवक्ष्यमाणाः ; विलासादयो नायकगुणाः तैर्युक्तम् ; सुखदुःखसमुद्भवत्वं रामयुधिष्ठिरादिवृत्तान्तेष्वभिव्यक्तम् ; नानाविधैरसैर्निरन्तरमविच्छिन्नम् ; राजर्षयो दुष्मन्तादयः, दिव्याः श्रीकृष्णादयः, दिव्योऽयात्मनि नराभिमानी दिव्यादिव्यः श्रीरामचन्द्रः ; निर्वहणे पञ्चमे सन्धौ ।

अङ्कलक्षणमाह,—

"प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः ।
नानाविधानसंयुक्तो वीजसंहृतिमान्न च ॥
युक्तो न बहुभिः कार्य्यैर्नातिप्रचुरपद्यवान् ।
आवश्यकानां कार्य्याणामविरोधाद् विनिर्म्मितः ॥
नानेकदिननिर्वर्त्त्यकथया संप्रयोजितः ।
आसन्ननायकः पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा ॥

पदे पदे मानवती तदृशः सङ्गमो द्वयोः ।
वृत्तिः स्यात् कौशिकी स्वल्पविमर्षाः सन्धयः पुनः" ॥

विमर्षसप्तमः सन्धिः । यथा रत्नावल्यादिः ।

"सम्प्राप्तनवपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसंश्रयम् ।
त्रोटकं नाम तत् प्राहुः प्रत्यङ्कं सविदूषकम्" ॥

यथा विक्रमोर्व्वश्यौ ।

बधयुद्धविवाहाद्यैर्वर्जितो नातिविस्तरः ।
देवोपरिजनादीनां प्रत्यक्षचरितैर्युतः ॥
अन्तर्निष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तितः"।

भावाः देवादिविषयकरत्यादयः, बीजस्य * संकृतिः सङ्कोचः,—

"तत्र पूर्व्वं पूर्व्वरङ्गः सभापूजा ततः परम् ।
कथनं कविसंज्ञादेर्नाटकस्याप्यथामुखम्" ॥

तत्र नाटके, सभापूजा विनीतवचनादिना सभ्यानामाभिमुख्यसम्पादनम् । आमुखं प्रस्तावना ।

पूर्व्वरङ्गस्य लक्षणमाह,—

"यन्नाट्यवस्तुनः पूर्व्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्व्वन्ति पूर्व्वरङ्गः स उच्यते" ॥

अस्य नान्दीनामाङ्गस्य स्वरूपमाह भरतः,—

"देवद्विजनृपादीनामाशीर्वादपरायणा ।
नन्दन्ति देवता यस्मात् तस्मान्नान्दीति संज्ञिता" ॥

---

* "स्वल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति ।
फलावसानं यच्चैवं बीजं तदिह कीर्तितम्" ॥ भरतः ।

सूत्रधारः † नान्दीं प्रयोज्य काव्यार्थसूचकैर्मधुरैर्वचनैः रङ्ग-स्थान् सभ्यान् प्रसाद्य रूपकस्य कवेश्च आख्यां कवेः गोत्राद्यपि कीर्त्तयेत् । ततः प्रस्तावना । तल्लक्षणमाह भरतः,—

"नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्य्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा" ॥

नटीति स्त्रीत्वमविवक्षितम्, प्रस्तुतस्य आक्षेपिभिरुद्बोधकैः । तद्भेदाः कथितास्तेनैव,—

"उद्घात्यकं कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ।
प्रवृत्तकावलगिते आमुखाङ्गानि पञ्च वै†" ॥

एषां क्रमेण लक्षणमाह स एव,—

"पदानि त्वगतार्थानि तदर्थगतये नराः ।
योजयन्ति पदैरन्यैस्तदुद्घात्यकमुच्यते" ॥

---

* सूत्रम् अभिनयानुष्ठानं धारयति यः सः । इदानीं सूत्रधार एव काव्यस्थापनादिकं सर्वमेव स्थापककार्यं प्रयोजयतीति व्यवहारः । स्थाप-काभिधानं नटान्तरं न दृश्यते ।

† दर्पणे उद्घात्यकमिति पुंलिङ्गान्तं प्रवृत्तकेत्यस्य स्थाने प्रवर्त्तकेति च दृश्यते ।

अगतः अबोधित इति यावत् अर्थो हृद्गतो यैस्तानि, तस्य हृद्गतस्यार्थस्य गतये बोधनाय । यथा मुद्राराक्षसे,—

"सूत्र । क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसमूर्णमण्डलमिदानीमभिभवितुमिच्छति बलात् ।

अनन्तरं नेपथ्ये । आः क एष मयि जीवति चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति ।

अत्र अन्यार्थवत्यपि पदानि हृद्गतार्थबोधनविरहात् पदान्तरैर्योजयित्वा पात्रप्रवेशः ।

"सूत्रधारस्य वाक्यं वा यत्र वाक्यार्थमेव वा ।
गृहीत्वा प्रविशेत् पात्रं कथोद्घातः स उच्यते" ॥

वाक्यमादाय रत्नावल्याम्, वाक्यार्थं गृहीत्वा वेण्याम् ।

"यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते ।
तेन पात्रप्रवेशस्येत् प्रयोगातिशयस्तदा" ॥

यथा उत्तररामचरिते,—

"सूत्र । तत् किमनेन, एहि राजद्वारमेव खंजातिसमयेनोपतिष्ठाव इति सूतिप्रयोगोद्यते सूत्रधारे, नटेन,—

स्नेहात् सभाजयितुमेत्य दिनान्यमूनि
नीत्वोत्सवेन जनकोऽद्य गतो विदेहान् ।

देव्यास्ततो विमनसः परिखान्नुनाय
धर्म्मासनाद्विगति वासगृहं नरेन्द्रः" ॥

इति रामस्यान्तःपुरप्रवेशरूपं स्तुतिप्रयोगमतिशयानं प्रयोगान्तरं प्रयुञ्जानेन सीतारामयोः प्रवेशः प्रयोजितः ।

"कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रभृद् यत्र वर्णयेत् ।
तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवृत्तकम्" ॥

सूत्रभृत् सूत्रधारः । यथा,—

"आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः ।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः" ॥

ततो रामस्य प्रवेशः ।

"यत्रान्यस्मिन् समावेश्य कार्य्यमन्यत् प्रसाध्यते ।
परानुरोधात् तज्ज्ञेयं नाम्नावलगितं बुधैः" ॥

समावेश्य सादृश्यमुद्भाव्य, यथा अभिज्ञानशकुन्तले ।
प्रस्तावनान्ते रूपकस्य प्रकृतेतिवृत्तमारभेत,—

"पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्य्येह वस्तुनि" ।

इह रूपके, वस्तुनि इतिवृत्ते ।

तल्लक्षणमुक्तं भरतेन,—

"यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिन् तल्लीनोऽन्यः प्रयुज्यते ।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकन्तु तत्" ॥

यत्र एकस्मिन् विषये चिन्तिते तत्संसक्तः अपरोऽर्थः अतर्कितेन भावेन बोध्यते तत्पताकास्थानकम् । यथा उत्तरचरिते,—

"रामः । कथं प्रियवचना वत्तमि प्रसुप्तैव । निर्वर्ण्य सस्नेहम्,

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः ।
अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥

प्रविश्य प्रतीहारी । देव ! उज्जयिन्यो ।

रामः । अये कः ।

प्रती । आसण्णपरिचारओ दुम्मुहो" ।

अत्र दुर्मुखोपस्थितिरूपार्थे चिन्तिते सीताविरहरूपार्थः सूचितः ।

यथा वा वेण्याम्,—

'पर्य्याप्तमेव करभोरु ममोरुयुग्मम्' । इति दुर्य्योधनेन कथिते । प्रविश्य सम्भ्रान्तः कञ्चुकी । 'देव भग्नं भग्नम्' इत्यनेन वायुना रथकेतनभङ्गरूपार्थे चिन्तिते भीमेन दुर्य्योधनोरुभङ्गरूपार्थः सूचितः ।

यत्तु युद्धवधादिकमन्यच्चानुचितमङ्केष्वदर्शनीयं तत्सर्वमर्थोपक्षेपकैर्विष्कम्भकादिभिः सूचयेत । आदिपदेन प्रवेशकाङ्कावतारादयो गृह्यन्ते ।

विष्कम्भकस्य लक्षणमाह धनञ्जयः,—

"वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः*" ॥

वृत्तवर्त्तिष्यमाणानाम् अतीतानां भाविनाञ्च, निदर्शकैः सूचकैः, मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां प्रयोजितः । यथा रत्नावल्यां प्रथमाङ्कादौ, अभिज्ञानशकुन्तले च चतुर्थाङ्कादौ ।

"प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा" ॥ विश्वनाथः ।

अनुदात्तोक्त्या प्राकृतवचनेन अङ्कद्वयान्तरिति प्रथमाङ्केऽस्य प्रतिषेधः । यथा वेण्यां तृतीयाङ्कादौ,—

"अङ्कान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः ।
यत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः" ॥

यथा अभिज्ञानशकुन्तले पञ्चमाङ्कान्ते पात्रैः सूचितः षष्ठाङ्कः तदङ्कस्य अङ्कविशेष इवावतीर्णः ।

---

* 'आदावङ्कस्य दर्शितः' इति दर्पणे पाठः ।

नाटकलक्षणोक्तसन्धिलक्षणमुक्तं दशरूपके,—

"अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति" ।

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजन-सम्बन्धः सन्धिः ।

तद्भेदानाह विश्वनाथः,—

"मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्ष उपसंहृतिः" ।

* "यत्र बीजसमुत्पत्तिस्तन्मुखं परिकीर्त्तितम्" । विश्वनाथः ।
यथा अभिज्ञानशकुन्तले प्रथमाङ्के दुष्मन्तशकुन्तलयोः परस्परानुरागरूपस्य बीजस्य उत्पत्तिः ।

"लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्" । दशरूपकम् ।
तस्य बीजस्य, यथा तत्रैव द्वितीयेऽङ्के दुष्मन्तानुरागस्य नातिपरिस्फुटप्रकाशः ।

"फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ।
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान् मुहुः" । विश्वनाथः ।
यथा तत्रैव तृतीयेऽङ्के उभयानुरागस्य सम्यक् प्रकाशः सुहृदन्वेषणं शकुन्तलाप्रस्थानादिना ह्रासश्च ।

"यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः" । दर्पणः ।
यथा तत्रैव चतुर्थेऽङ्के उत्कर्षं प्राप्तोऽनुरागो दुर्व्वाससः शापेन विघ्नितः ।

"बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्व्वहणं हि तत्" । दशरूपकम् ।
यथा तत्रैव सप्तमाङ्के शकुन्तलादुष्मन्तयोर्मेलनरूपतया सर्व्वकार्य्याणामवसानम् । उपसंहृतेरेव नामान्तरं निर्व्वहणम् ।

अथ नाट्योक्तयः,—

"सर्व्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम् ।
रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम् * ॥
त्रिपताकाकरेणानान्यानपवार्याऽन्तरा कथाम् ।
अन्योन्यामन्त्रणं यत् स्याज्जनान्तिकम् † ॥
किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम्" ॥ दशरूपकम् ।

"प्रायेण ग्रथन्तकः साधिर्गमैः स्थाने प्रयुज्यते ।
राजा स्वामीति देवेति भर्त्यैर्भर्तृति चार्यमैः ॥
राजर्षिभिर्वयस्येति तथा विदूषकेण च ।
राजन्निति ऋषिभिर्वाच्यः सोऽपत्यप्रत्ययेन च ॥
स्वेच्छया नामभिर्विप्रो विप्र आर्य्येति चेतरैः ।
वयस्येत्यथवा नाम्ना वाच्यो राज्ञा विदूषकः ॥
वाच्यौ नटीसूत्रधारावार्य्यनाम्ना परस्परम् ।
सूत्रधारं वदेद्भाव इति वै पारिपार्श्विकः ॥
(तं) सूत्रधारो मारिषेति हण्डे इत्यधमैः समाः ।
वयस्येत्युत्तमैर्हंहो मध्यैरार्य्येति चाग्रजः ॥
भगवन्निति वक्त्र्याः सर्व्वैर्देवर्षिलिङ्गिनः ।

---

* परावृत्य अन्यस्य रहस्यकथनमपवारितम् ।

† यस्य न श्राव्यं तस्यान्तरे ऊर्द्धसर्व्वाङ्गुलं वक्त्रानामिकं त्रिपताक लक्षणं करं कृत्वाऽन्येन सह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकम् ।

वदेद्राज्ञीञ्च चेटीञ्च भवतीति विदूषकः ॥
आयुष्मन् रथिनं सूतो हृद्धं तातेति चेतरः ।
वत्स पुत्रक तातेति नाम्ना गोत्रेण वा सुतः ॥
शिष्योऽनुजश्च वक्तव्योऽमात्य आर्येति चाधमैः ।
विप्रैरयममात्येति सचिवेति च भण्यते ॥
उपाध्यायेति चाचार्यः कुमारो भर्तृदारकः ।
सौम्यभद्रमुखेत्येवमधमैस्तु कुमारकः ॥
वाच्या प्रकृतिभीरात्तः कुमारी भर्तृदारिका" । दर्पणः ।
"हरण्डे हञ्जे हलाङ्गानं नीचं चेटीं सखीं प्रति" ॥ अमरः ।

अथकाव्यस्य लक्षणं भेदांश्चाह,—

अथ श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत् त्रिविधं परिकीर्त्तितम् ।
पद्यं गद्यञ्च मिश्रञ्च पद्यं चतुष्पदी मतम् ॥
जातिर्वृत्तमिति द्वेधा जातिर्मात्राकृतेन तत् ।
वृत्तमक्षरसंख्यातं पद्येनैकेन मुक्तकम् ॥
द्वाभ्यान्तु युग्मकं ज्ञेयं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ।
कलापकं चतुर्भिः स्यात् तदूर्द्धं कुलकं स्मृतम् ॥

पद्यमयस्य महाकाव्यस्य लक्षणमुक्तं काव्यादर्शे,—

"सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम ।

आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ॥
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम् ॥
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रसूर्य्यादिवर्णनैः ।
अलङ्कृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ॥
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः ।
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम् ॥
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलङ्कृति" ।

यथा रामायणरघुवंशशिशुपालवधनैषधचरितादि ।

"खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि च" ।

यथा मेघदूतादि ।

"वृत्तबन्धोज्झितं गद्यं" तद्भेदास्तु कथादयः ।

यथा कादम्बर्य्यादि ।

गद्यपद्यमयं मिश्रं चम्पूरित्यभिधीयते ।

पद्यमिश्रत्वञ्चात्र बाहुल्येनेति ज्ञेयम् । ततश्च कादम्बर्य्यादिषु एकद्वित्रिपद्यसत्त्वेऽपि न तेषां गद्यकाव्यत्वहानिः ।

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन काव्यप्रभेदनं नाम चतुर्थशिखा ।

दोषस्वरूपमाह,—

काव्यापकर्षका दोषास्ते पुनः पञ्चधा मताः ।
पदांशपदवाक्यार्थरसानां दूषणेन हि ॥

ये खलु पदवाक्यरसादिदूषणद्वारेण काव्यस्यापकर्षमुत्पादयन्ति, ते नाम दोषनाम्ना कथ्यन्ते । ते पुनः पद-पदांश-वाक्यार्थ-रस-दूषणद्वारेण काव्यं दूषयन्तीति प्रथमतः पञ्चविधाः । तत्र,

निरर्थकासमर्थत्वे च्युतसंस्कृतित्वञ्च पदगतान्येव ।

निरर्थकत्वम् अर्थहीनत्वं, यथा च, वा, हादीनि वृत्त-पूरणमात्रप्रयोजनानि रामायणादिषु बाहुल्येन दृष्टव्यानि ।

असमर्थं तदर्थे पठितमपि तस्य अवाचकम् । यथा, 'कुम्भं हन्ति कृशोदरी' इत्यत्र हन्तीति * गमनार्थे पठितमपि न तत्र समर्थम् ।

च्युतसंस्कारत्वं व्याकरणलक्षणहीनत्वम्, यथा,—

"गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्या-
माजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः" । किरातार्जुनीयम् ।

'आङो यमहनः' [१।३।२८ पा०] इत्यनुशासनबलादाङ्-पूर्व्वस्य हनः स्वाङ्गकर्मकस्याकर्मकस्य चात्मनेपदं नियमितम् ।

* पदान्तरसहकारेण तु 'पङ्क्तिः' इत्यादौ हन्तेर्गमनार्थत्वमस्त्येव ।

इह तु तदुल्लङ्घितमिति व्याकरणलक्षणहीनत्वात् च्युत-संस्कारत्वम् ।

दुःश्रवानुचितार्थत्वे ग्राम्यत्वं निहतार्थता ।
क्लिष्टत्वमप्रतीतत्वं विरुद्धमतिकारिता ॥
अविमृष्टविधेयांशभावः सन्दिग्धता तथा ।
पदवाक्याश्रिता दोषाः * पदांशेऽप्येषु केचन ॥

दुःश्रवत्वं परुषवर्णतया श्रुतिदुःखावहत्वम् † । पदगतं यथा,—

बन्धुभिः सादरं नेत्रैः पीयमानेव सा सुदृक् ।
सुताननेन्दुपूर्णाङ्गा कार्त्तार्थ्यं लभतां कदा ॥

अत्र कार्त्तार्थ्यमिति श्रुतिकटु । वाक्यगतं यथा,—

"सोऽध्यैष्ट वेदांश्चिदधानयष्ट पितॄनतार्षीत् सममंस्त बन्धून् ।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च" ॥ भट्टि० ।

---

* एकमात्रस्य पदस्य दुष्टत्वे पददोषः, पदानामेकाधिकानां तथात्वे वाक्यदोषः, पदानां परिवर्त्तनेऽपि दोषस्य तादवस्थ्येऽर्थदोषः इत्याहुः ।

† "वक्तरि क्रोधसंयुक्ते तथा वाच्ये समुद्यते ।
रौद्रादौ तु रसेऽत्यन्तं दुःश्रवत्वं गुणो भवेत्" ॥ विश्वनाथः ।

क्रमेणोदाहरणम्,—

"यो यः शस्त्रं बिभर्त्ति स्वभुजगुरुमदात् पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।
यो यस्तत्कर्म्मसाक्षी चरति मयि रणे यस्य यस्य प्रतीपः
क्रोधाभ्यस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्" ॥ वेणी० ।

पदांशेऽप्येत्, यथा,—

"तद्गच्छ सिद्धै कुरु देवकार्यम्" इत्यत्र 'द्धै' इति पदांशं दुष्यमाहुः ।

अनुचितार्थत्वं पदगतं यथा,—

"तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते
प्रयत्नतः सत्त्विभिरिष्यते च या ।
प्रयान्ति तामाशु गतिं यशस्विनो
रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः" ॥

अत्र पशुपदं कातर्य्यमभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थम् । वाक्यगतन्त्वेदम् ।

ग्राम्यत्वं * केवलं लोके एव स्थितत्वम् । पदगतं यथा,—

किं रूपा शोणितस्रष्टी गल्लस्ते स्यन्दते भृशम् ।

वाक्यगतं यथा,—

"ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भृशं जल्पति मानुषः ।
करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा" ॥

प्रथमे गल्लशब्दः, द्वितीये गल्लादयश्च शब्दाः, ग्राम्याः ।

अत्र कुपितो वक्ता । उद्भटं वाच्यं यथा,—

"संवर्तप्रकटविवर्तसम्पदाधोनाथोर्ध्विव्यतिकरविभ्रमप्रचण्डः ।
निर्घोषः स्फुरति भृशं परःसहस्रव्यावल्गत्प्रबलगतागतास्फपाद्याम्" ॥ वीर० ।

रौद्रादिरसे तूदाहरणानि पूर्व्वमुक्तानि ।

* ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु गुणः । यथा अभिज्ञानशकुन्तले,—

जालु । 'एत्तिके दाव एदस्स आगमे, अध मां मालेध कुट्टेध वा' ।

अत्र 'मालेध' 'कुट्टेध' इति पदे ग्राम्ये ।

निहतार्थत्वम् * उभयार्थकस्य शब्दस्य अप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगः । यथा,— "यमुनाशम्बरमम्बरं व्यतानीत्" ।

शम्बरशब्दो दैत्यविशेषे प्रसिद्धः, इह तु जले निहतार्थः ।

† क्लिष्टत्वमर्थप्रतीतेर्व्यवहितत्वम् । पदगतं यथा,—

'क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः प्रसन्नाः' ।

अत्र क्षीरोदजा लक्ष्मीस्तस्यावसतिः पद्मं तस्य जन्मभुवो जलानीत्यतिकष्टेन बोधः ।

वाक्यगतं यथा,—

"धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः ।
रज्यत्यपूर्ब्बबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम्" ॥

अत्र धम्मिल्लस्य (केशबन्धस्य) शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न रज्यतीति सम्बन्धः क्लिष्टः ।

अप्रतीतत्वमेकदेशशास्त्रान्तरमात्रप्रसिद्धत्वम् ‡ । यथा,—

'योगेन दलिताशयः' आशयशब्दो वासनार्थो योगशास्त्रे एव प्रसिद्धः ।

---

* श्लेषादौ एतन्न दोषः ।

† क्लिष्टत्वं विरुद्धमतिकारित्वम् अविमृष्टविधेयांशभावश्च एतानि समासगतान्येव गतदोषाः ।

‡ "गुणः स्यादप्रतीतत्वं यत्तं चेद्वक्तृवाच्ययोः" । विश्वनाथः । यथा,—"त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।
तद्दर्शनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः" ॥ कुमारसं० अत्र वक्तृवाच्ययोस्तदर्थबोधान्नदोषः ।

विरुद्धमतिकारिता यथा,—

"उदारचरितोधीमान् सर्व्वलोकप्रियङ्करः ।
अकार्य्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे" ॥

अत्र कार्य्यं विना मित्रमिति विवक्षितम्, अकार्य्येषु मित्रमिति विरुद्धा प्रतीतिः ।

अविसृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तस्य भावः अविसृष्टविधेयांशभावः, अयं विधेयाविमर्श इति च कथ्यते । यथा,—"वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने" । कु० स०

अत्र अलक्ष्यं विधेयं तस्य च समासे गुणीभावादप्राधान्येन निर्द्देशः । यथा वा,—"असुलभा भवता नाथ मुहूर्त्तमपि सा पुरा" ।

अत्र नञो विधेयत्वमेवोचितम्, यथा निम्ने श्लोके,—

"नवजलधरः सञ्जज्ञोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराक्रष्टं न तस्य शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कणकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्व्वशी" ॥ (विक्रमो०)
"जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्म्ममनातुरः ।
अदृष्धनुरादद्दे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत्" । (रघुवं०)

इत्यत्र तु अत्रस्तताद्यनुवादेनात्मगोपनाद्येव विधेयमिति न दोषः । वाक्यगतो यथा,—

"न्यक्कारोह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।

धिक् ! धिक् ! यक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनदृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः" ॥

"अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेद्" इत्युद्देशस्य प्रथमं ततो विधेयस्य निर्देशो युक्तः । अत्र, न्यक्कारस्य विधेयत्वे विवक्षितेऽपि प्रथमं निर्देशात् न तथा प्रतीतिः । रचना च पदद्वयस्य विपरीतेति वाक्यदोषः ।

यथा वा,—

"आनन्दयति ते नेत्रे योऽसौ सुभ्रु समागतः" ॥

अत्र, 'असौ' इत्यस्य विधेयत्वमेव भवितुं युक्तं, तच्च यच्छब्द निकटस्थतया अनुवाद्यत्वप्रतीतिकृत् ।

सन्दिग्धत्वं * यथा,—

"आशीः परम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु" ।

अत्र, वन्द्यामिति वन्दाभूतायां उत वन्दनीयामिति सन्देहः ।

वाक्यमात्रगतान् दोषानाह,—

वर्णानां प्रतिकूलत्वं सन्धौ विश्लेषकष्टते ।
अधिकन्यूनकथितपदताऽक्रमता तथा ॥

* 'सन्दिग्धत्वं गुणो व्याजस्तुतिपर्य्यवसायि चेत्' । (विश्वनाथः)
व्याजस्तुतिश्च अलङ्कारप्रस्तावे वक्ष्यमाणा । यथा,—
"पृथुकार्त्तस्वरपातं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति समभावयोः सदनम्" ॥

भग्नप्रक्रमता ख्यातिहतता सङ्करोऽपि च ।
गर्भितत्वं तथा काव्ये दोषाः स्युर्वाक्यमात्रगाः ॥

वर्णानां रसानुगुणत्वं वक्ष्यते, तद्वैपरीत्यं प्रतिकूलत्वम् । यथा, 'कृतमनुमतम्' (१२ पृ०) इत्यादि पूर्वमुक्तम् । अत्र हि गाढ़बन्धत्वं दीर्घसमासत्वञ्च उचितम् । तद्वैपरीत्यकरणात् दोषः ।

सन्धौ विश्लेषः द्विविधः, व्याकरणलक्षणानुसारेण कृतः, अनुशासनमुल्लङ्घ्य स्वेच्छया कृतश्च । पूर्वः असकृदेव दोषः, द्वितीयस्तु सकृदपि । आद्यो यथा,—

"दलिते उत्पले एते अक्षिणी अमलाङ्गि! ते" ।

द्वितीयो यथा,—

"वासवाशासुखे भाति इन्दुश्चन्दनविन्दुवत्" ।

सन्धौ कष्टता श्रुतिदुःखावहत्वम् । यथा,

"उर्व्यप्रसावत तर्व्वाली सर्व्वन्ते चार्व्ववस्थितिः ।
नात्तर्व्वं युज्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाक्" ॥

अधिकपदता* यथा,—

"सदाशिवं नौमि पिनाकपाणिम्" इत्यत्र 'पिनाकपाणिम्' इति विशेषणमधिकम् ।

---

* 'गुणः काप्यधिकं पदम्' यथा,—

"आचरति दुर्ज्जनो यत् सहसा मनसोऽप्यगोचरानर्थान् ।
तत्र न जाने जाने स्मरति मनः किन्तु नैव निष्टरताम्" ॥

"कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः" इत्यत्र तु अतिदुष्प्रधृष्यत्व-सूचनाय 'पिनाकपाणेः' इति विशेषणं युक्तमेव ।

न्यूनपदता * यथा, "तथाभूतां दृष्ट्वा" इत्यादौ (६ पृ०) पूर्वमुक्ते ।

अत्र, 'अस्माभिः' इति 'खिन्ने' इत्यस्मात् पूर्वम् 'इत्थम्' इति च पदं न्यूनम् ।

अत्र न न जाने इत्ययोगव्यवच्छेदकम्, द्वितीयं जाने इति अन्ययोग-व्यवच्छेदकम् इतिवैचित्र्यातिशयः ।

"सम्भ्रमे विस्मये हर्षे विषादेऽप्यधिकं पदम्" । गुण एव । सम्भ्रमे यथा,—

"अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः ।
त्वत्कोपदहनार्चिषं ततः सन्दधे दृशमुदग्रतारकाम्" ॥ रघुवंशम् ।

विस्मये हर्षे च यथा,—

"दृष्ट्वा स्फीतोऽभवदलिरसौ लेखपद्मं विशालं
चित्रं ! चित्रं ! किमिति ! किमिति ! व्याहरन् निष्पपात ।
नाघ्रान् गन्धो न च मधुकणो नास्ति तत्सौकुमार्य्यं
घूर्णन् मूर्द्धा वत ! नतशिरा व्रीड्या निर्जगाम" ॥

विषादे यथा,—"रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजालम् ।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे
हा ! हन्त ! हन्त ! नलिनीं गज उज्जहार" ॥

* "उक्तावानन्दमग्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः" ।

कथितपदत्वं* यथा,—

"प्रियं चेद्भरतस्यैतद्रामप्रव्राजनं भवेत् ।

माऽस्य मे भरतः कार्षीत् प्रेतकृत्यं कदाचन" । (रामा०)

अत्र भरत इति पुनः कथितं, सर्व्वनाम्नैव अस्य परामर्शो युक्तः,—"माऽस्य मेऽसौ सुत" इत्यदुष्टम् ।

अक्रमत्वं, अविद्यमानः क्रमः पदस्थितिक्रमो यत्र तत् अक्रमम् तस्य भावः । यथा,—

"इयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः ।

कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी" ।। कु०

अत्र त्वम् इत्यनन्तरं चकारो युक्तः ।

भग्नप्रक्रमता, भग्नः प्रक्रमः उद्देशानुगुणः प्रस्तावो यस्मिन् तद् भग्नप्रक्रमम् तस्य भावः । यथा,—

"यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्त्तितुं वा ।

निरूत्सुकानामभियोगभाजां सत्सूत्सुकेवाङ्कमुपैति लक्ष्मीः" ।। (किरा०)

अत्र सुखलिप्सयेत्यत्र 'सुखमीहितुम् वा' इति तुमन्तप्रयोग एव युक्तः ।

---

* यत्र तत्पदप्रयोग एव न युक्तस्तत्र अधिकपदत्वम्, यत्र तु पर्य्यायान्तरेण सर्व्वनाम्ना वा तत्प्रयोगो युक्तस्तत्र कथितपदत्वम् ।

विहितस्य अनुवादत्वे कथितपदत्वं गुणः । यथा,—

"उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।

सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता" ।।

ख्यातिहतता प्रसिद्धित्यागः। मेघादीनां गर्ज्जिताद्येव प्रसिद्धं तदन्यथावर्णने ख्यातिहतत्वम्।

वाक्यान्तरपदानां वाक्यान्तरेऽनुप्रवेशः सङ्करः। यथा,—

"किमिति न पश्यसि कोपं पादगतं वल्लुगुणमाद्रियस्वैनम्।
ननु सुभ्रु हृदयनाथं सदयं मनसस्तमोरूपम्" ॥

अत्र, पादगतं वल्लुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि दृमं सदयमाद्रियस्व मनसस्तमोरूपं कोपं मुञ्चेत्यन्वयः। एकवाक्यगतत्वे तु क्लिष्टत्वमित्यस्माद्भेदः।

वाक्यान्तरे वाक्यान्तरप्रवेशो गर्भितत्वम् *। यथा,—

"परापकारनिरतैर्दुर्ज्जनैः सह सङ्गतिः।
कर्त्तव्यः साधुसंसर्गो न विधेया कदाचन" ॥

अत्र तामपदस्य कथितपदत्वेऽपि उत्तरवाक्येऽनुवाद्यत्वान्नदोषः। यथा वा,—

"जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः" ॥

* गर्भितत्वं क्वचिद्गुणः यथा,—

"दिङ्नातङ्गघटाविभङ्गचतुराघाटा मही साध्यते
सिद्धाः सापि 'वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत'।
विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमः
यस्मात् प्रादुरभूत् कथाद्भुतमिदं यत्रैव चास्तं गतम्" ॥

अत्र "वदन्त एव हि" इत्यादिवाक्यं वाक्यान्तरमध्ये प्रविष्टं चमत्कारातिशयं पुष्णाति।

अथ तृतीयपादवाक्यं वाक्यान्तरमध्ये प्रविष्टम् ।

अर्थदोषानाह,—

"दुष्क्रमग्राम्यकष्टत्वं व्याहतत्वमहेतुता ।
अनवीक्षतता पौनरुक्तं ख्यातिविरुद्धता ॥
अनुवादो विधेश्चैवमर्थदोषाः प्रकीर्त्तिताः" ।

दुष्क्रमता दुर्दुष्टोविरुद्धइति यावत् क्रमो वचनक्रमो यस्मिन् स दुष्क्रमः, यथा, वसन्तादिवर्णने प्रथमं प्रवालोद्भस्य ततः कुसुमोत्पत्तेरनन्तरं पुष्पेषु शिलीमुखानामापतनमिति यथाक्रममेवैतेषामाविष्करणमुचितम्, विशिष्टहेतुं विना ततोऽन्यथावर्णने दुष्क्रमतादोषः, एवमन्यत्रापि ।

ग्राम्यत्वं * यथा,—ताम्भृङ्गारतुल्योऽयमर्को मज्जति वारिधौ ।

कष्टत्वमर्थप्रतीतेर्व्यवहितत्वम् । यथा,—

"मदा मध्ये यासामियममृतनिष्यन्दसरसा
सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम् ।

---

* ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु गुणः, यथा,—

"एसो ससहरबिम्बो दीसइ हेअङ्गवीणपिण्डोव्व ।
एदेअ अमससमोहा पदन्ति आसासु दुद्धधाराव्व" ॥

"एष शशधरविम्बो दृश्यते हैयङ्गवीनपिण्ड इव ।
एते च रश्मिसमूहाः पतन्ति आशासु दुग्धधारा इव" ॥ मं०

इयं हि विदूषकोक्तिः ।

प्रसादं ता एता घनपरिचिताः कैर्न महतां
महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः" ॥

अत्र यासां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारचित्रमध्यमात्मकत्रिमार्गा भारती चमत्कारं वहति, ता गम्भीरकाव्यपरिचिताः कथमितरकाव्यवत् प्रसन्ना भवन्तु इत्येकोऽर्थः। यासामादित्यप्रभानां मध्ये त्रिपथगा वहति, ता मेघपरिचिताः कथं प्रसन्ना भवन्तीति द्वितीयोऽर्थः। अर्थद्वयमपि नितरां दुर्बोधम्। शब्दानां परिवर्त्तनेऽपि कष्टतायास्तादवस्थ्यादयमर्थदोषः।

कस्यचित् प्रागुत्कर्षमपकर्षं वाभिधाय पश्चात्तदन्यथाप्रतिपादनं व्याहतत्वम्। यथा,—

"हरन्ति हृदयं यूनां न मवेन्दुकलादयः।
वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका" ॥

अत्र येषामिन्दुकला नानन्दहेतुस्तेषामेवानन्दाय तन्व्यां चन्द्रिकात्वारोपः।

अहेतुता (निर्हेतुता) * हेतोरवचनम्, यथा,—

"गृहीतं येनाब्धेः परपरिभवाच्चोचितमपि
प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः।

* "निर्हेतुता तु ख्यातेऽर्थे दोषतां नैव गच्छति"।
यथा, "चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्मान्निता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उभावसुखन्तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः"॥ कुमा०
अत्र रात्रौ पद्मस्य सङ्कोचः, दिवा चन्द्रमसश्च निष्प्रभत्वं लोकप्रसिद्धमिति 'न भुङ्क्ते' इति हेतुं नापेक्षते।

परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकाच्च तु भयाद्-
विमोच्ये शस्त्र ! त्वामहमपि ततः स्वस्ति भवते" ॥ (वेणी०)

अत्र द्वितीयशस्त्रमोचने हेतुर्नोक्त इति निर्हेतुत्वम् ।

अनवीकृतत्वं * यथा,—

"प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
सन्तर्पिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम्" ॥

अत्र ततः किमिति न नवीकृतम् ।

पौनरुक्त्यं यथा,—

"अस्त्रज्वालावलीढप्रतिबलजलधेरन्तरौर्व्वायमाणे-
सेनानाथे स्थितेऽस्मिन् मम पितरि गुरौ सर्व्वधन्वीश्वराणाम् ।
कर्णालं सम्भ्रमेण व्रज जय ! समरं मुञ्च हार्दिक्य ! शङ्कां
ताते चापद्वितीये वहति रणधुरां को भयस्यावकाशः" ॥ (वेणी०

अत्र चतुर्थपादवाक्यार्थः पुनरुक्तः ।

ख्यातिविरुद्धता † यथा,—

* भङ्ग्यन्तरेण निर्हेतुत्वं नवीकृतत्वं । 'किं ततः' इत्यत्र 'किं तस्मात्' इत्यादिरूपेण शब्दपरिवर्त्तनेऽपि उत्कर्षाभावात्नवीकृतत्वमेवेति कथितपदत्वाद्भेदः ।

† "कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरुद्धता" । (विश्वनाथः ।)
कविसमयख्यातानि च दर्पणे,—

"मालिन्यं व्योम्नि पापे यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्यो-
रक्तौ च क्रोधरागौ सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्दीवरादि ।

"ततश्चचार समरे शितशूलधरो * हरिः" ।

अत्र हरेः शूलं लोकेऽप्रसिद्धम् ।

विधेर्विधेयस्य अनुवादः अप्राधान्येन निर्देशः, यथा,—

'प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशाम्' इत्यत्र शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे इति विधेयम् ।

रसदोषानाह,—

"रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि ।
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ॥
अकाण्डे प्रथनच्छेदावङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ।

तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसंघो
ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधरदिवसे मानसं यान्ति हंसाः ॥
पादाघातादशोकं विकसति बकुलं योषितामास्यमद्यै-
र्यूनामङ्गेषु हाराः स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः ।
मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो-
र्भिन्नं स्यादस्य वाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत् ॥
अह्नाभोजं निशायां विकसति कुमुदं चन्द्रिका शुक्लपक्षे
मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाप्यशोके फलं स्यात् ।
न स्याज्जाती वसन्ते न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणा-
मित्यादुच्चैर्यमत्यत् कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे" ॥

* अत्र शूलशब्दस्य पर्यायान्तरेणोपादानेऽपि दोषस्यास्य सद्भाव इति प्रसिद्धिरुल्लङ्घिता ।

अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्य्ययः" ॥

इत्यादिकाः सहृदयैरसदोषाः प्रकीर्त्तिताः ॥

रसस्य स्वशब्देन रसेतिशब्देन हास्यादिशब्देन वाऽभिधानम्, स्थायिनां हासादीनां सञ्चारिणां निर्व्वेदादीनाञ्च स्वनाम्ना कथनं दोषः ।

* प्रतिकूलानां विरुद्धानां विभावादीनां ग्रहो ग्रहणम् ।

यथा, आदिमे निर्वेदादीनां शान्तसञ्चारिणां, वीरे च वैवर्ण्यघर्मादीनाम् भयानकस्यानुभावादीनां ग्रहणम् ।

पुनः पुनर्दीप्तिर्यथा, कादम्बर्य्यां महाश्वेताविलापे ।

अकाण्डेऽनुचितेऽवसरे प्रथनं प्रकटनं, यथा वेण्यां द्वितीयाङ्के अनेकवीरसंक्षये प्रवृत्ते दुर्य्योधनस्य भानुमत्या प्रमोदवर्णनम

अकाण्डे क्लेदो यथा वीरचरिते राघवभार्गवयोर्दूराधिरूढ़े संग्रामे "कङ्कणमोचनाय गच्छामि" इति राघवस्योक्तिः ।

---

* "सञ्चार्य्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यत्वेन वचो गुणः" । विश्वनाथः । यथा,—"काकार्य्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा,
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं सुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्ल्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपेहि कः खलु युवा धन्यो धरां धास्यति" । विक्र०

अत्र प्रशमाङ्गानां वितर्कमतिशङ्काधृतीनामभिलाषाङ्गौत्सुक्यस्मृतिदैन्य चिन्ताभिस्तिरस्कारः ।

अङ्गस्य अतिविस्तृतिः किरातार्जुनीये सुराङ्गनाविलासादिवर्णने ।

अङ्गिनोऽननुसन्धानं यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के वाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः ।

प्रकृतयो दिव्याः, अदिव्याः, दिव्यादिव्याश्च ; तेषु च धीरोदात्तादयः ; तत्र यो यथाभूतस्यायथावर्णने प्रकृतिविपर्य्ययो दोषः, यथा रामस्य लक्ष्मना बालिवधः, यथा वा कुमारसम्भवे अष्टमे उत्तमदैवतयोः पार्व्वतीपरमेश्वरयोः सम्भोगवर्णनम् ।

उक्तानां दोषाणां केषाञ्चित् क्वचिददोषत्वं क्वचिद्गुणत्वञ्च । तच्च तत्तद्दोषोल्लेखस्थलेषु पश्चाधोभागे द्रष्टव्यम् ।

"अनुकरणे च सर्व्वेषां दोषाणां स्याददोषता" ।

यथा,—प्रलपत्येष वैधेयः 'स्कन्धस्ते यदि बाधति' ।

अत्र बाधतीति दुष्टमप्यनुकरणत्वाददुष्टम् ।

दोषविवेचनं नाम पञ्चमशिखा ।

षष्ठशिखा ।

गुणस्वरूपमाह मम्मटः,—

"ये रसस्याङ्गिनो धर्म्माः शौर्य्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः" ॥

आत्मन एव हि यथा शौर्य्यादयः, नाकारस्य ; तथा रसस्यैव माधुर्य्यादयो गुणाः न वर्णानाम् । अचलस्थितयो नियतावस्थानाः ।

"माधुर्य्योजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते" समुदीरिताः ।

माधुर्य्यलक्षणमुक्तं काव्यप्रकाशे,—

"आह्लादकत्वं माधुर्य्यं" चित्तस्य "द्रुतिकारणम्" ।

आह्लादकत्वमानन्दजनकत्वम्, द्रुतिर्गलितत्वमिव ।

"करुणे विप्रलम्भे तत् शान्ते चातिशयान्वितम्" ।

अत्यन्तद्रुतिहेतुत्वादित्यर्थः ।

"मूर्द्धि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान् विना ।
रणौ लघू च तद्वक्तौ वर्णाः कारणतां गताः ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा" ॥ विश्व०

यथा,—"तदिदं क्रियतामनन्तरं भवता बन्धुजनप्रयोजनम् ।
विधुरा ह्यबलातिसर्ज्जनात्तनु मां प्रापय पल्लवन्निकम्" । कु० स०

ओजःस्वरूपं तद्व्यञ्जकं वर्णादिकञ्चाह विश्वनाथः,—

"ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ॥
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु" ॥
"वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ।
उपर्य्यधोद्वयोर्वा सरेफाष्टटडढैः सह ॥
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गताः ।
तथा समासबहुला घटनौद्वत्यशालिनी" ॥

यथा,—"चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि ! भीमः" ॥ वेणीस० ।

प्रसादस्वरूपं तद्व्यञ्जकान् वर्णांश्चाह स एव,—

"चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।
शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः" ॥

यथा,—"गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्" । रघु०

इत्यादिकं कालिदासग्रन्थेषु रामायणे च बाहुल्येन द्रष्टव्यम्

"एषां शब्दगुणत्वञ्च गुणवृत्त्योच्यते बुधैः" ।

गुणावृत्त्या परम्परया ।

गुणविवेको नाम षष्ठशिखा ।

रीतिस्वरूपं तद्भेदांश्चाह,—

"अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौड़ीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ" ॥ दण्डी

प्रस्फुटान्तरौ स्फुटप्रतीयमानभेदौ । मार्गः रीतिः, सा च पदविन्यासप्रणालीरूपा । यथाह विश्वनाथः,—

"पदसङ्घटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्" ।

वैदर्भीस्वरूपमाह स एव,—

"माधुर्य्यव्यञ्जकैर्वर्णैरचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते" ॥

ललितात्मिका मधुरस्वरूपा, वृत्तिः समासः, यथा, "तदिदं क्रियताम्" (पृ० ४६) इत्यादि पूर्व्वमुक्तम्,—

"ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ।
समासबहुला गौडी" दर्पणे समुदीरिता ॥

बन्धः रचना ; आड़म्बरः गाढ़ः । यथा,—

'चञ्चद्भुजभ्रमित' इत्यादि (पृ० ५०) पूर्व्वमुक्तम् ।

रीतिविवेचनं नाम सप्तमशिखा ।

अलङ्कारस्वरूपमाह,—

"काव्यशोभाकरान् धर्म्मानलङ्कारान् प्रचक्षते" । दण्डी

ते च द्विविधाः, शब्दगताः अर्थगताश्च । शब्दगताः अनुप्रासयमकादयः । तत्र,—

"अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्" ।

स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनमात्रसादृश्यं अनुप्रासः, स च रसानुगुणो वर्णानां प्रकर्षेण न्यासः । यथा,—

"लताकुञ्जं गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं चपलयन्
समालिङ्गच्चङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन् ।
मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि" ॥ विश्वः

"सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते" ॥ विश्वनाथः ।

अत्र द्वयोरपि वर्णसङ्घातयोः क्वचित् सार्थकत्वं क्वचिन्निरर्थकत्वं क्वचिदेकस्य सार्थकत्वमपरस्य निरर्थकत्वमत उक्तं 'सत्यर्थे' इति, तेनैव क्रमेणेति 'दमोमोद' इत्यादेर्विविक्तविषयत्वम् । एतच्च पदपादाद्यावृत्तित्वेन प्रभूततमभेदम् । दिङ्मात्रमुदाह्रियते,—

"नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम् ।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः" ॥ माघः

प्रथमे पादे द्वयोरपि, द्वितीये प्रथमस्यैव, तृतीये च द्वितीयस्यैव सार्थकत्वम्, चतुर्थे द्वयोरपि 'रभिंसु' इत्येतयोर्निरर्थकत्वम् ।

"श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते" । विश्व०

स च वर्णप्रत्ययप्रकृतिपदादिश्लेषाद्बहुविधः । यथा,—

"प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता ।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि" ॥ माघः

अत्र विधाविति च विधुविधिशब्दयोरुकारेकारयोरौकारकरूपत्वाद् वर्णश्लेषः, करेति च प्रकृतिश्लेषोऽपि ।

"मृदुकार्त्तस्वरपातं भूषितनिःशेषपरिजनं देव !।
विलसत्करेणुगहनं सम्मति समभावयोः सदनम्" ॥

अत्र पदश्लेषः ।

अर्थालङ्काराः स्वभावोक्तिरूपमादयश्च । तत्र स्वभावोक्तेर्वस्तुस्वभाववर्णनस्वरूपत्वात् स्वभाववर्णनञ्च वस्तूनां प्रकृतञ्चेत्तत्तद्वस्तूनि प्रत्यक्षमिव दर्शयित्वा सहृदयमनांसि नितरामाकर्षतीति तस्या अतीव चमत्कारित्वात्तामेव प्रथममाह ।

"स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम्" ।

यथा अभिज्ञानशकुन्तले,—

"ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्व्वकायम् ।

गर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविततमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति" ॥

यथा वा तत्रैव पञ्चमाङ्कादौ कञ्चुकिनो जरावर्णनम्। तत्रैव च सप्तमे नृपशिशोः सिंहशावकास्फन्दनविक्रान्तिवर्णनम्। उपमास्वरूपमुक्तमादर्शे,—

"प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमेत्यभिधीयते"।

प्रस्फुटमिति रूपकादेर्गम्यसाम्याद्भेदाय, सुन्दरं वैचित्र्यजनकं, तेन "गौरिव गवयः" इत्यत्र नायमलङ्कारः, साम्यं साहश्यम्। साम्यञ्च क्रियागतं, गुणगतम्, उभयगतञ्चेति त्रिविधम्।

क्रमेणोदाहरणानि, तत्र क्रियागतं यथा,—

"क्षणात् प्रबोधमायाति लङ्घ्यते तमसा पुनः।
निर्व्वास्यतः प्रदीपस्य शिखेव जरतो मतिः" ॥ अ० ग०

अत्र 'आयाति' 'लङ्घ्यते' इति च क्रियाद्वयस्य उपमेये उपमाने च साम्यम्।

गुणगतं यथा,—

"हरस्तु किञ्चित् परिलुप्तधैर्य्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि" ॥ कु० स०

अत्र परिलुप्तधैर्य्यत्वं गुण उभयत्रापि समानः।

उभयगतं यथा,—

"स्तनयति हृदयेशं स्नेहनिष्यन्दिनी ते
धवलवहलसुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टिः"। उत्तरच०।

अत्र स्रपयतीति क्रियासाम्यं 'स्नेहनिष्यन्दिनी धवलबहलमुग्धा' इति गुणसादृश्यञ्च ।

"मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते" । विश्व० ।

यथा,—"प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतस्त्रिभूषितश्च" ॥

"तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः" । मम्मटः ।

उपमानं चन्द्रादि, उपमेयं मुखादि । प्रकाशितविभिन्नस्वरूपयोरपि उपमानोपमेययोरतिसाम्यप्रदर्शनाय काल्पनिकोऽभेदारोपो रूपकमित्यर्थः । यथा,—

"पर्य्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि" ॥ कु० स०

अत्र लतासु वधूनां पुष्पस्तवकादिषु च स्तनादीनामभेदारोपः ।

"सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्" । काव्यप्र० ।

प्रकृतस्य उपमेयस्य, समेन उपमानेन । सम्भावनञ्च उत्कटकोटिकः संशयः, अप्रस्तुतकोटेरुत्कटत्वञ्च प्रस्तुतकोटेर्निर्गरणेन जायते, निगरणञ्च प्रस्तुतस्य क्वचिदनुपादानेन क्वचिदुपात्तस्याप्यधःकरणेन भवति । यदुक्तम्,—

"विषयस्यानुपादानेऽप्युपादाने च क्वचयः ।
अधःकरणमात्रेण निगीर्णत्वं प्रचक्षते" ॥

विषयः प्रस्तुतम् । क्रमेणोदाहरणम्,—

"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता" ॥ मृच्छ०

अत्र तमसः प्रसरसम्भावनादिरूपो विषयो नोपात्तः ।

"समयः स वर्त्तत एष यत्र मां समनन्दयत् सुतनु गौतमार्पितः ।
अयमाप्तहीतकमनीयकङ्कणस्तव मूर्त्तिमानिव महोत्सवः करः" ॥ उ०च०

अत्र विषयःकर उपात्तोऽपि मूर्त्तिमन्महोत्सवरूपेणाधःकृतः ।

"मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः" ॥ दण्डी

मन्येप्रभृतयः शब्दा उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः ।

"सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यानिगूयोक्तिर्निगद्यते" । विश्व० ।

प्रकृतस्य निगरणेनाभेदज्ञानमप्रकृतस्य अध्यवसायः, तस्य च उत्प्रेक्षायामप्रस्तुतस्यानिश्चितत्वेन निर्देशात् साध्यत्वम् दृष्ट तु निश्चितत्वेनैव प्रतीतिरिति सिद्धत्वमित्यनयोर्भेदः । निगरनञ्च उभयत्रापि समानमेव । यथा,—

"आकालजलदावली किरतु नाम मुक्तावली-
रपर्व्वणि विधुन्तुदस्तुदतु हन्त गीतद्युतिम् ।
रुदन्तु महदद्भुतं यदनपायिविद्युल्लता-
वलम्बिकनकाचलद्वयमधोमुखं लक्ष्यते" ॥

अत्र केशादेर्जलदावल्यादिरूपेणाध्यवसानम् । यथा वा,—

"दृष्टिस्तोकतडागसूचकचयद्वारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।
कौमारकेऽपि गिरिवद्गुरुतान्दधानो
वीरो रसः किमयमेत्य पुनर्दर्प एषः" ॥ उ० च०

अत्र कुम्भस्य वीररसरूपेण दर्परूपेण चाध्यवसानम् । प्रथमे विषयः केनादिर्नोपात्तः, द्वितीयेऽयमित्यनेनोपात्तोऽप्यधःकृतः ।

"प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्वार्थोक्तौ च कल्पनम् ।
कार्य्यकारणयोर्य्यस्य पौर्ब्वापर्य्यविपर्य्ययः ।
विज्ञेयातिशयोक्तिः सा" ऽप्यन्यैव प्रथमोक्ततः ॥ काव्यप्र०

क्रमेणोदाहरणम्,—

"अन्यदेवाकृतीवयवमन्याः सौरभसम्पदः ।
तस्याः पद्मपलाशाक्ष्याः सरसत्वमलौकिकम्" ॥

यदि शब्देन तत्पर्य्यायान्तरेण वा यद्वार्थस्य कथनेऽसम्भविनोऽर्थस्य कल्पनमित्यर्थः । यथा,—

"पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद्विषदस्य तस्यास्ताम्रोष्ठपर्य्यस्तरुचः स्थितस्य" ॥ कु०स०

कार्य्यकारणयोः पौर्ब्वापर्य्यविपर्य्ययश्च द्विधा भवति कारणात् पूर्ब्वं कार्य्यस्य भावे, द्वयोः समकालत्वे च । क्रमेण यथा,

"उदेति पूर्णं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः ।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः" ॥ अ०श०

"समसेव समाक्रान्तं हृदयं द्विरदगामिना ।
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलञ्चारिमण्डलम्" ।। रघुवं०

"उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः" । मम्मटः ।

अन्यस्य उपमेयस्य, व्यतिरेक आधिक्यम् । स एव व्यतिरेकालङ्कारः । यथा,—

"चन्द्रं गता पद्मगुणान् भुङ्क्ते पद्मास्थिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
उभामुखन्तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः" ।। कु०स०

अत्र उपमाभूतचन्द्रपद्मापेक्षया उपमेयस्य उमामुखस्य अधिकगुणवत्त्वकथनम् । यथा वा,—

"दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे" ।। रघु०

अत्र उपमानभूतात् सूर्य्यादपि रघोः प्रतापातिशयवर्णनम् ।

"प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ।
एकोऽपि धर्म्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्" ॥ विश्व०

प्रतीयमानसादृश्ययोर्वाक्ययोरेकस्यापि धर्म्मस्य पौनरुक्त्यभिया शब्दान्तरेण निर्देशः प्रतिवस्तूपमा । यथा,—

"मधुस्त्वं मन्मथ सार्थवर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव ।
समीरणो नोदयिता भवेति व्याहिंसते केन सतामनस्य" ।। कु०स०

अत्र अनुक्तस्यापि सहजसहायस्य स्वत एव साहाय्यसम्पादने प्रवृत्तिरित्येक एवार्थः शब्दान्तरेण निर्दिष्टः । यथा वा,—

"अन्यापि वैदर्भि! गुणैरुदारैर्वेया समाकृष्यत नेयभोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमभ्युत्तरलीकरोति" ॥

अत्र समाकर्षणरूप एक एव धर्मः भङ्ग्यन्तरेण पृथङ्-निर्दिष्टः।

"अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः"।
निदर्शना भवेत्सेयं मम्मटेन यथोदिता॥

उपमापरिकल्पकः पर्य्यवसाने साम्यबोधकः। यथा,—

"क सूर्य्यप्रभवो वंशः क चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहाडुडुपेनास्मि सागरम्" ॥ रघुवं०

अत्र मन्मत्या सूर्य्यवंशवर्णनमुडुपेन सागरतरणमिवेत्युपमायां पर्य्यवस्यति। यथा वा,

"अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद्रागमिवोगिरन्तौ।
आजह्नुतस्तस्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमध्यवस्याम्" ॥ कु०स०

अत्र उपमाधर्म्मस्य अरविन्दश्रियश्चरणयोरुपमेयभूतयोरसम्बादरविन्दश्रियमिव श्रियमित्युमायां पर्य्यवसानम्।

"दृष्टान्तस्तु सधर्म्मस्य वस्तुनः प्रतिविम्बनम्"।

सधर्म्मस्य समानधर्म्मस्य वस्तुनो विषयस्य प्रतिविम्बनं प्रणिधानेन गम्यसाम्यत्वम्। प्रतिवस्तूपमायामेकस्यैव धर्मस्य भङ्ग्यन्तरेण निर्देश इत्यस्माद्भेदः। यथा,—

"नैतच्चूतमपि भूयस्या वचो वाचातिगम्यते।
इत्यगौरवगर्भिण्या नास्तीति प्रथमम्" ॥ साहः।

"सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्र सोऽर्थान्तन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा" ॥ मम्मटः ।

साधर्म्येण वैधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण विशेषो वा सामान्येन यत्समर्थ्यते सोपपत्तिकतया दृढ़ःक्रियते सोऽर्थान्तरन्यासः । समर्थ्यसमर्थकवाक्ययोः सामान्यविशेषभावेऽर्थान्तरन्यासः, दृष्टान्ते तु न तथेत्यनयोर्भेदः । सामान्यं विशेषेण यथा,—

"दृढ़ग्रहायः कार्य्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
समूलयाम्रोधिमभ्येति महानद्या नगापगा" ॥ शिशुपा०

अत्र द्वितीयार्द्धगतेन विशेषेणार्थेन पूर्व्वार्द्धगतः सामान्योऽर्थः समर्थ्यते । विशेषः सामान्येन यथा,—

"यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः ।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः" ॥ शि० व०

अत्र द्वितीयार्द्धगतेन सामान्येनार्थेन प्रथमार्द्धगतो विशेषोऽर्थः समर्थ्यते । वैधर्म्येण यथा,—

"दृत्यमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम् ।
प्रायेणात्मोपकारेण नोपकारेण दुर्ज्जनः" ॥ कु० स०

अत्र द्वितीयार्द्धगतेन सामान्येनार्थेन प्रथमार्द्धगतो विशेषोऽर्थो वैधर्म्येण समर्थ्यते ।

"पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।
एकधर्म्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता" ॥ विश्व०

केवलं प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा एकधर्म्मसम्बन्धः तुल्ययोगिता । यथा,—

"यं सर्व्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्" ॥ कु० स०

अत्र हिमवद्वर्णनस्य प्रकृतत्वात् तद्गतौषधिरत्नानां द्वयानामपि प्रकृतत्वम्, तेषां दोहनक्रियारूपैकसमानधर्म्मसम्बन्धात् केवलप्राकरणिकविषयोऽयमलङ्कारः ।

"नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात् कदलीविशेषाः ।
लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्व्वोरुपमानवाह्याः" ॥ कु० स०

अत्र नागेन्द्रहस्तानां कदलीविशेषाणाञ्च द्वयानामप्यप्रस्तुतानां परिणाहिरूपलाभक्रियायाः समानधर्म्मस्य सम्बन्धात् केवलाप्राकरणिकविषयकमिदमुदाहरणम् ।

"अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते" । विश्व० ।

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोरेकधर्म्माभिसम्बन्धो दीपकम् । यथा,—

"बलावलेपादधुनापि पूर्ब्ववत् प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।
सती च योषित् प्रकृतिश्च निश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि" ॥ शि० व०

अत्र प्रस्तुतायाः प्रकृतेरप्रस्तुतायाः पतिव्रतायाश्च जन्मान्तरेऽपि स्वकीयपुरुषानुगमनरूपैककियासम्बन्धः ।

"अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्" । विश्व०

तत्रापि दीपकमेव । यथा,—

"विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रबोधो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो-
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च सम्मीलयति च" ॥ उ०च०

अत्र भ्रमयति सम्मीलयति चेत्युभयोः क्रिययोः कर्त्तृकारकमेकं विकार इति कर्मकारकञ्चैकं चैतन्यमिति ।

"सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः" । विश्व०
भेदोक्तौ तदनुक्तौ च द्विधासौ परिकीर्त्तितः ॥

प्रकृते उपमेये, अन्यस्य उपमानस्य । प्रतिभा कविप्रौढ़ोक्तिः तया उत्थितः, तेन स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सन्देहे नायमलङ्कारः । भेदो वैधर्म्यम् । भेदोक्तौ यथा,—

"अयं भालस्थः किं स खलु तरलैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं सर्व्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम् ।
कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं
सशोकाशङ्कौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः" ॥

भेदानुक्तौ यथा,—

"यस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रद-
श्चित्तोन्मादरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेधाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो-
निर्म्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः" ॥ विक्रमो०

"साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थिना" ॥

विश्वनाथः ।

प्रतिभोत्थितेति 'शुक्तिकायां रजतम्' इति भ्रान्तिर्नास्यालङ्कारस्य विषयः। यथा,—

"महाराज! श्रीमन्! जगति यशसा ते धवलिते
पयःपारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते।
कपर्दी कैलासं करिवरमधायं कुलिशभृत्
कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना" ॥

अत्र भोजराजस्य यशसा धवलीकृते जगति सर्व्वत्रापि परमपुरुषादीनां समुद्रादिभ्रान्तिः कविप्रतिभोत्थितेति भ्रान्तिमानलङ्कारः।

"प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः"। विश्व०।

इहापि कविप्रौढ़ोक्तिसिद्धमेव। यथा,—

"मेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैतास्च तारा नवफेणभङ्गाः।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः" ॥

अत्र प्रकृतानां नभोमण्डलादीनां प्रतिषेधेन अम्बुराशिप्रभृतीनामप्रस्तुतानां स्थापनम्। यथा वा;

"दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः।
मणिव्याजेन पर्य्यन्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः" ॥ रघुवंशम्।

अत्र प्रस्तुतानां मणीनां प्रतिषेधेन अश्रुबिन्दूनां स्थापनम्। समासोक्तिलक्षणमुक्तमाग्नेये,—

"यत्रोक्ताद्गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः ।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षेपार्थतया बुधैः" ॥

तत्समानविशेषण इत्युपलक्षणम्, तेन तत्समानकार्यः तत्समानलिङ्गश्च गृह्यते । यत्र समैर्विशेषणैः कार्यैर्लिङ्गैश्च उक्तात् प्रस्तुताद्प्रस्तुताद्वाऽन्यो यथाक्रममप्रस्तुतः प्रस्तुतो वाऽर्थो बोध्यते सा संक्षेपोक्तिस्वरूपत्वात्, 'समासेन संक्षेपेण उक्तिः' इति व्युत्पत्त्या समासोक्तिः कथिता । संक्षेपश्च एकस्य वचनेनोभयप्रतिपत्तिरिति । आदर्शे, अप्रस्तुताद्वाच्यात् प्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिरित्यभिहितम्; नव्यास्तु तद्विपरीत्येन प्रस्तुताद्प्रस्तुतप्रतीतौ समासोक्तिः अप्रस्तुतात् प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसेत्याहुः । वाच्ये प्रस्तुतेऽप्रस्तुतव्यवहारसमारोपः समासोक्तिरिति विश्वनाथादयः । वस्तुतस्तु उभयत्रापि समासोक्तेरेवाभ्युपगमस्यौचित्यात्तदनुगुणमेव प्राचीनरीत्या लक्षणमुक्तमस्माभिः । उदाहरणं क्रमेण,—

"श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः ।
उपवनान्नलताः पवनाहृतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः" ॥ रघु० ।

अत्र विशेषणसाम्यात् कार्यसाम्याच्च प्रस्तुताद्वनलतारूपार्थाद्प्रस्तुतो नर्त्तकीरूपोऽर्थः प्रतीयते ।

"चातकस्त्वयि चतुरान् पयःकणान् याचते जलधरं पिपासितः ।
सोऽपि पूरयति भूयसामसा चित्रमत्र महतामुदारता" ॥

अत्र अप्रस्तुताच्चातकाज्जलधराच्च कार्यसाम्यात् प्रस्तुतो याचक:, उदाराश्चयो धनपतिश्च बोध्यते ।

"अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्प्रक्रान्तेषु या स्तुतिः ।
तन्मुखेन प्रस्तुतस्य निन्दा यत्र प्रतीयते" ॥ दण्डी० ।

अप्रक्रान्तेषु, अप्रस्तुतेषु अप्रस्तुतानामित्यर्थः, षष्ठ्यर्थे सप्तमी ।

यथा,—"पादाहतं यदुत्थाय मूर्द्धानमधिरोहति ।
स्वस्थादेवावमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः" ॥ भिषुपा० ।

अत्र अप्रस्तुतस्य रजसः प्रशंसामुखेन प्रस्तुतस्य अवमानसहिष्णोर्निन्दा प्रतीयते । यथा वा,—

"सुखं जीवन्ति हरिणा वनेष्वपरसेविनः ।
अचैरयत्नसुलभैस्तृणदर्भाङ्कुरादिभिः" ॥

अत्र मृगाणां सुखजीवनस्याप्रस्तुतस्य प्रशंसया प्रस्तुतस्य राजानुवृत्तिजीवनस्य निन्दा प्रतीयते ।

"व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा" । मम्मटः ।

मुखे आपाततः, अन्यथा यथाक्रमं स्तुत्यां निन्दायां वा रूढिः पर्य्यवसानम् । स्तुतिपर्य्यवसायिनी निन्दा निन्दापर्य्यवसायिनी स्तुतिश्च व्याजस्तुतिरिति फलितम् । निन्दायाः स्तुतिरूपेण पर्य्यवसाने व्याजेन स्तुतिरिति व्याजस्तुतिः, स्तुतेर्निन्दारूपेण पर्य्यवसाने व्याजरूपा स्तुतिः । क्रमेण यथा,—

त्यक्त्वा राज्यं गिरमनुसरन् स्त्रीवशाद्भूदबुद्धे-
राज्ञो भ्रान्त्वा गहनविपिने हारयन् मुग्धकान्ताम् ।
सख्यं बद्ध्वा कपिभिरसमं लङ्घयन् कीर्त्तिमग्र्यां
पर्व्वेषां वो विजयमनयो हेमलङ्कां किमेतत् ॥

अत्र स्त्रीवशवर्त्तिनो मूढधियो नरपतेर्वचनप्रतिपालनम्, पूर्वेषां सगरसुतानां कीर्त्तिलङ्घनादिकञ्चापाततो निन्देव प्रतिभाति; चरमे तु पितुः प्रतिज्ञा संरक्षिता, दुस्तरं तोयनिधिमुत्तीर्य्य दुःसहप्रतापो वनितापहारी दशाननो विजितः समूलमुन्मूलितश्चेत्यहो दुष्करं कृतमिति सर्व्वमेव स्तुत्यां पर्य्यवस्यतीति निन्दायाः स्तुतिरूपेण पर्य्यवसाने व्याजस्तुतिः ।

युक्तं तवैतत् रघुवंशभूपते! सतां हि सख्युः परिपालनं व्रतम् ।
कुतः स्तुतिः का जगदीश निर्म्मला भवान् यदर्थं न्यबधीच्चिरागसम् ॥

अत्र प्रियवन्धोः संरक्षणमुचितमेवेति तव सुग्रीवसहायत्वं युक्तमेवेत्यापाततः स्तुतिरपि, मित्रकार्य्यार्थं निरपराधस्य जीर्णकलेवरस्य शाखामृगस्य मे हननं सर्व्वथा गर्हितमेवेति चरमे निन्दायां पर्य्यवस्यतीति स्तुतेर्निन्दायां पर्य्यवसाने व्याजस्तुतिः ।

"प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते" ॥ विश्व०

क्रमेण यथा,—

"यच्चन्द्रेत्यवदन्कान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं
मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी ।
येऽपि त्वद्गमनानुकारिगतयस्ते राजहंसा गता-
स्तत्साद्दश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते" ॥

"मुखं यदि किमिन्दुना यदि चलाश्चले लोचने
किमुत्पलकदम्बकैर्यदि तरङ्गभङ्गी भ्रुवौ ।

किमात्मभवधन्यना यदि सुसंयताः कुलजाः
किमम्बुवहडम्बरैर्यदि तनूरियं किं श्रिया" ॥ वो० च०

प्रथमे प्रसिद्धानामुपमावस्तूनामिन्दीवरादीनामुपमेयत्वप्रकल्पनम्, द्वितीये इन्दुप्रभृतीनां निष्फलत्वकथनम् ।

"शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम्" । विश्व०

स्वभावादेकार्थैरिति शब्दश्लेषात्, वाचनमिति च ध्वनेर्व्यवच्छेदः । यथा,—

"खलस्य कण्टकस्यैव द्विविधैव प्रतिक्रिया ।
उपानद्वा वक्त्रभङ्गो दूरतो वा विवर्जनम्" ॥

"सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्" ।

यथा—

"पुरोपनीतं स्वप रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतदम्बसा ।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परम्परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः" ॥ भार०

अत्र वपुर्यशश्चोभयमपि क्षीयते इति सहार्थबलाद्बोध्यते ।

"हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्" । विश्व० ।

वाक्यस्य पदार्थस्य वा हेतुरूपेणोक्तौ काव्यलिङ्गम् । यथा,—

"रे हस्त दक्षिण कृतस्य गिरीन्द्रजस्य
जीवातवे विसृज मूढ़सुनौ कृपाणम् ।
रामस्य गात्रमसि दुर्भरगर्भखिन्न-
सीताप्रवासनपटोः करुणा कुतस्ते" ॥ (उ० च०)

अत्र करुणाया अभावे 'रामस्य गात्रमसि' इति वाक्यं, 'दुर्भरगर्भखिन्नसीताप्रवासनपटोः' इति पदार्थश्च हेतुः ।

"विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते"। विश्व०

यथा—

"अयमेघोदयं वर्षमदृष्टकुसुमं फलम् ।
अतर्कितोपपन्नं वो दर्शनं प्रतिभाति मे" ॥ (कु०सं०)

अत्र मेघोदयकुसुमरूपकारणयोरभावेऽपि वर्षफलरूपकार्य्ययोरभिधानम् ।

"सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्" त्रिधा च सा ।
उक्तयनुक्तयोर्निमित्तस्याप्यचिन्त्यत्वे च कुत्रचित् ॥

उक्तनिमित्ता अनुक्तनिमित्ता अचिन्त्यनिमित्ता चेति सा त्रिधा । क्रमेण यथा,—

"धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चञ्चलाः ।
प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः" ॥

अत्र धनादिरूपहेतुसत्त्वेऽपि उन्मादादिरूपफलाभावः । महामहिमशालित्वमेव निमित्तमुक्तम् । अत्रैव चतुर्थपादे "कियन्तः सन्ति भूतले" इति पाठे निमित्तमनुक्तं भवति,—

"स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न बलं हृतम्" ॥

अत्र तनुहरणेऽपि बलाहरणे निमित्तमचिन्त्यम् ।

"विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः" । मम्मटः ।

वस्तुतोऽविरोधेऽपि विरुद्धयोरिव धर्म्मयोर्यदभिधानं स विरोधः, अयमेव विरोधाभास इत्युच्यते । व्यधिकरणयोरिव धर्म्मयोः सामान्याधिकरण्येन निर्देशो विरोधः । धर्म्मश्चात्र जातिगुणक्रियाद्रव्यरूपः । उदाहरणम्,—

"अजस्य गतिरुद्भूतो जन्म निरीहस्य कृतद्विषः ।
क्षपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव" ॥ (रघुवं०)

"जगद्योनिरयोनित्वं जगदन्तो निरन्तकः ।
जगदादिरनादित्वं जगदीशो निरीश्वरः" ॥ कु०स्व०

प्रथमे भगवतः प्रभावस्यातिशयित्वादापाततः प्रतीयमानस्य विरोधस्य समाधानम्, द्वितीये नञ्तत्पुरुषसमासे विरोधः, बहुव्रीहिणा परिहारः ।

"गुणक्रिये वा यत् स्यातां विरुद्धे हेतुकार्य्ययोः ।
यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ।
विरूपयोः सङ्घटना या च तद्विषमं मतम्*" ॥ विश्व०

यत्र, कारणगुण एकः कार्य्यगुणस्तद्विपरीतः, क्रिया वा

* यत्र गुणादेरेकाश्रयवृत्तित्वेन परस्परविरोधः, तत्रैव विरोधालङ्कारो भवितुमर्हति । यत्र पुनः कार्य्यकारणयोर्भिन्नाश्रयवृत्तित्वेन परस्परविरुद्धत्वं तत्रैव विषमस्यावसर इत्यनयोर्भेदः ।

द्वयोर्विरुद्धा, यत्र न केवलमारभ्यस्य वैफल्यमनर्थापत्तिश्च, यद् विषमयोर्मेलनञ्च भवेत्। तदेवं चतुर्धा विषमम्, क्रमेण यथा—

"सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते" ।

अत्र कारणरूपासिलतायाः 'कारणगुणाः कार्य्यगुणमारभन्ते' इति स्थितेर्विरुद्धा शुक्लयशस उत्पत्तिः ।

"आनन्दमन्दमिमं कुवलयदललोचने ददासि त्वम् ।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे" ॥

अत्र त्वमानन्दं ददासि तज्जनितो विरहस्तु तापयतितरामिति हेतुकार्य्ययोर्विरुद्धा क्रिया ।

"अयं रत्नाकरोऽम्भोधिरित्यसेवि धनाशया ।
धनं दूरेऽस्तु वदनमपूरि क्षारवारिभिः" ॥

अत्र न केवलं काङ्क्षितधनलाभो माभूत् प्रत्युत क्षारवारिभिर्वदनपूरणरूपानर्थपातः ।

"अनृताङ्किरं न गदसीति जगति पटहैर्विघुष्यसे ।
निन्द्यमथ च हरिमर्च्चयतस्तव कर्म्मणैव विकसत्यसत्यता" ॥ माघः

अत्र सत्यप्रख्यापनासत्यसमाचरणयोर्विरूपयोः सङ्घटना ।

"कार्य्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः" । विश्व०

यथा,—"जस्सेअ वणो तस्सेअ वेअणा भणइ जणो तं अलिअं ।
दल्लक्खअं कवोले वहए वेअणा सवत्तीणम्" ॥

अत्र एकस्याः कपोले दशनक्षतमपरस्यावेदनेति कार्य्यकारणयोर्भिन्नाश्रयत्वम् ।

"परं परं प्रति यदा पूर्व्वपूर्व्वस्य हेतुता ।
तदा कारणमाला स्याद्" दर्पणे समुदीरिता ॥

यथा "जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयाद्वाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः" ॥

"उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत् सारः परावधिः" । सम्मटः

"राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पुरं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्ब्बस्वम्" ॥

"पूर्व्वं पूर्व्वं प्रतिविशेषणत्वेन परं परम् ।
स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदैकावली द्विधा" ॥ विश्व०

पूर्व्वं पूर्व्वं प्रति यथोत्तरस्य वस्तुनो विशेषणत्वेन यत्स्थापनं निषेधो वा सम्भवति सा द्विधा बुधैरेकावली कथ्यते । क्रमेणोदाहरणम्,—

"सरो विकसिताम्भोजमम्भोजं भृङ्गसङ्कुलम् ।
भृङ्गा यत्र समङ्गीताः सङ्गीतं मधुवर्षि च" ॥

अत्र सरसोऽम्भोजं तस्य भृङ्गं इत्यादि क्रमेण विशेषणं विधीयते ।

"न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः" ॥ भट्टिः

अत्र क्रमेण पूर्व्वपूर्व्वस्य निषेधः ।

"दण्डापूपिकयाऽन्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते" ।

मूषिकेण दण्डो भक्षित इत्यनेन तत्सहचरितमपूपभक्षणमर्थादायातं भवतीति न्यायो दण्डापूपिका तयाऽर्थानन्तरबोधनमर्थापत्तिः । यथा,—

"विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु" ॥ रघु०

अतिकठिनं लोहमपि तापेन गलितं भवतीति तदपेक्षयाऽतिसुकुमारस्य मनुष्यहृदयस्य गलनं सुतरामायातीत्यर्थापत्तिः ।

अलङ्कारविवेको नाम अष्टमशिखा ।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

